प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला- 63

डॉ. सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग-8

भगवान महावीर का जीवन दर्शन

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

सादर समर्पण

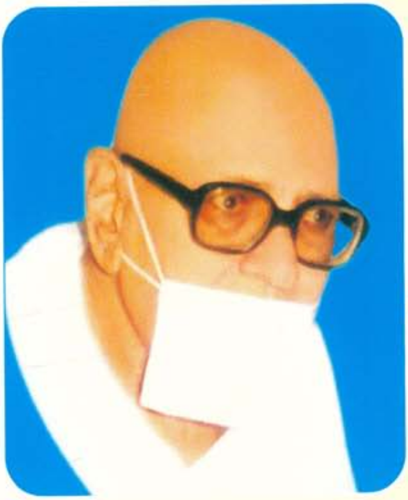

उपाध्याय प.पू. पुष्करमुनिजी म.सा.

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी

महाश्रमणी

पू. श्री पुष्पवतीजी म.सा.

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 63

सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग – 8

भगवान महावीर का जीवन दर्शन

लेखक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक – प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

- प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक 63

- **भगवान महावीर : जीवन और दर्शन**

- सागरमल जैन आलेख संग्रह भाग 8

- भगवान महावीर से सम्बन्धित आलेख

- लेखक :-
  डॉ. सागरमल जैन

- प्रकाशक :-
  प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
  फोन नं. 07364-222218

- प्रकाशन वर्ष 2015-16

- कापीराइट - लेखक डॉ.सागरमल जैन

- मूल्य - रूपये 200/-
- सम्पूर्ण सेट (लगभग 25 भाग) - 5000/-

- मुद्रक
  छाजेड़ प्रिन्टरी, स्टेशन रोड, रतलाम
  फोन 07412-230557

प्रकाशकीय

डॉ.सागरमल जैन 'जैन विद्या एवं भारतीय विधाओं' के बहुश्रुत विद्वान् हैं। उनके विचार एवं आलेख विगत 50 वर्षों से यत्रतत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के विभिन्न ग्रन्थों की भूमिकाओं के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं। उन सबको एकत्रित कर प्रकाशित करने के प्रयास भी अल्प ही हुए हैं। प्रथमतः, उनके लगभग 100 आलेख सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ में और लगभग 120 आलेख- श्रमण के विशेषांकों के रूप में 'सागर जैन विद्या भारती' में अथवा जैन धर्म एवं संस्कृति के नाम से सात भागों में प्रकाशित हुए हैं, किन्तु डॉ.जैन के लेखों की संख्या 320 से अधिक है, साथ ही उन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत के तथा जैन धर्म और संस्कृति से संबंधित अनेक ग्रन्थों की विस्तृत भूमिकाएं भी लिखी हैं। उनका यह समस्त लेखन प्रकीर्ण रूप से बिखरा पड़ा है। विषयानुरूप उसका संकलन भी नहीं हुआ है। उनके ग्रन्थ भी अब पुनः प्रकाशन की अपेक्षा रख रहे हैं, किन्तु छह-सात हजार पृष्ठों की इस विपुल सामग्री को समाहित कर प्रकाशित करना हमारे लिए संभव नहीं था। साध्वीवर्या सौम्यगुणाश्रीजी का सुझाव रहा कि प्रथम क्रम में उनके विकीर्ण आलेखों को ही एक स्थान पर एकत्रित कर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाये। उनकी यह प्रेरणा हमारे लिए मार्गदर्शक बनी और हमने डॉ.सागरमल जैन के आलेखों को संगृहीत करने का प्रयत्न किया। कार्य बहुत विशाल है, किन्तु जितना सहज रूप से प्राप्त हो सकेगा-उतना ही प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाएगा। अनेक प्राचीन पत्र-पत्रिकाएं पहले हाथ से ही कम्पोज होकर प्रिन्ट होती थीं, साथ ही वे विभिन्न आकारों और विविध प्रकार के अक्षरों में मुद्रित होती थीं, उन सबको एक साइज में और एक ही फोण्ट में प्रकाशित करना भी कठिन था। अतः, उनको पुनः प्रकाशित करने हेतु उनका पुनः टंकण एवं प्रूफरीडिंग आवश्यक था। हमारे पुनः टंकण के कार्य एवं प्रूफ संशोधन के कार्य में सहयोग किया छाजेड़ प्रिन्टरी ने। हम उनके एवं मुद्रक छाजेड़ प्रिन्टरी के भी आभारी हैं।

– नरेन्द्र जैन एवं ट्रस्ट मण्डल
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ क्र.
1.	भगवान् महावीर का जीवन और दर्शन	1
2.	भगवान् महावीर का जन्म स्थल : एक पुनर्विचार	22
3.	भगवान् महावीर का केवलज्ञान स्थल : एक पुनर्विचार	32
4.	भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि पावा : एक पुनर्विचार	36
5.	भगवान् महावीर की निर्वाण तिथि पर पुनर्विचार	43
6.	युगीन परिवेश में महावीर स्वामी के सिद्धान्त	60
7.	महावीर का दर्शन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में	66
8.	महावीर का श्रावक वर्ग तब और अब : एक आत्मविश्लेषण	73
9.	महावीर के दर्शन में अहिंसा की अवधारणा और उसकी उपादेयता	79
10.	भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त	110
11.	महावीर का अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) : एक चिन्तन	116
12.	महावीरकालीन विभिन्न आत्मवाद एवं महावीर के आत्मवाद का वैशिष्ट्य	153

1

भगवान् महावीर का जीवन और दर्शन

भगवान् महावीर का जन्म बौद्धिक जागरण के युग में हुआ था। उस युग में भारत में हमारे औपनिषदिक ऋषि नित-नूतन चिन्तन प्रस्तुत कर रहे थे। महावीर और बुद्ध भी उसी वैचारिक क्रांति के क्रम में आते हैं, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि महावीर की विशेषता क्या थी? बुद्ध की विशेषता क्या थी? यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि कोई भी महापुरुष अपने युग की परिस्थितियों की पैदाइश होता है। महावीर और बुद्ध जब इस भूमण्डल पर आये, उनके सामने दो प्रकार की समस्याएँ थीं। एक ओर वैचारिक संघर्ष था, तो दूसरी ओर मनुष्य अपनी मानवीय गरिमा और मूल्यवत्ता को भूलता जा रहा था। महावीर ने जो मुख्य कार्य किया, वह यह कि उन्होंने मनुष्य को उसकी विस्मृत महत्ता या गरिमा का बोध कराया। अगर महावीर के जीवन-दर्शन को दो शब्दों में कहना हो, तो हम कहेंगे 'विचार में उदारता और आचार में कठोरता।'

वैचारिक क्षेत्र में महावीर की जीवनदृष्टि जितनी उदार, सहिष्णु और समन्वयवादी रही, आचार के क्षेत्र में महावीर का दर्शन उतना ही कठोर रहा। महावीर के जीवन के सन्दर्भ में हमारे सामने एक बात बहुत ही स्पष्ट है, वह यह कि वह व्यक्ति राजपरिवार में, सम्पन्न परिवार में जन्म लेता है, लेकिन फिर भी उस सारे वैभव को ठुकरा देता है और श्रमण जीवन अंगीकार कर लेता है। आखिर ऐसा क्यों करता है? उसके पीछे क्या उद्देश्य है? क्या महावीर ने यह सोचकर संन्यास ले लिया कि श्रमण या संन्यासी होकर ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है? ऐसी बात नहीं थी, क्योंकि महावीर ने स्वयं ही आचारांग में कहा

है–'गामे वा रण्णे वा', धर्म साधना–गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है। फिर महावीर ने संन्यास का मार्ग क्यों चुना? उत्तर स्पष्ट है– 'समिच्च लोए खेयन्ने पवेइए'–समस्त लोक की पीड़ा जानकर और जगत् को दुःख और पीड़ा से मुक्त करने के लिए महावीर ने संन्यास धारण किया। वे अपने वैयक्तिक जीवन से एक ऐसा आदर्श प्रतिष्ठित करना चाहते थे, जिसे सम्मुख रखकर व्यक्ति मानवता के कल्याण की दिशा में आगे बढ़ सकता है। सम्भवतः, प्रश्न यह हो सकता है कि लोकमंगल और लोककल्याण के लिए श्रमणत्व क्यों आवश्यक है? मित्रों! हम आज के युग में भी देखते हैं कि जब तक व्यक्ति कहीं भी अपने निजी स्वार्थों से और वैयक्तिक तथा पारिवारिक कल्याण से जुड़ा होता है, तब तक वह सम्यक् रूप से लोककल्याण का सम्पादन नहीं कर सकता। चाहे आप उसको लोककल्याण अधिकारी क्यों नहीं बना दें, क्यों वह लोककल्याण कर सकेगा? व्यक्ति जब तक अपने स्वार्थों एवं हितों से ऊपर नहीं उठ जाता, तब तक वह लोकमंगल का सृजन नहीं कर सकता।

लोकमंगल के सृजन के लिए निजी सुखाकांक्षाओं से, स्वार्थों से, अहम् से, मैं और मेरे के भाव से ऊपर उठना आवश्यक होता है, इसीलिए चाहे वे महावीर हों या बुद्ध या अन्य कोई, लोकमंगल के लिए तो अपने आपको पूरी तरह से लौकिक ऐषणाओं, वासनाओं और कषायों से ऊपर उठाना होगा। ममत्व और मेरेपन के घेरे को समाप्त करना होगा।

महावीर के सम्बन्ध में जो बात मैं आपके सामने प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, उसमें मुख्य है– महावीर की वैचारिक उदारता। समाज में अगर कोई संघर्ष है, तो उस संघर्ष का समाधान वैचारिक उदारता के बिना सम्भव नहीं है। विचारों के प्रति भी ममत्व या आग्रह को समाप्त करना होगा, इसलिए महावीर ने तो कभी यह भी नहीं कहा कि मैं किसी नवीन धर्म का प्रवर्त्तन कर रहा हूँ और न ही यह कहा कि कोई नवीन सिद्धान्त तुम्हें दे रहा हूँ। महावीर ने विनय भाव से यही कहा कि --'समियाए आयरिए धम्मे पवेइए', आर्यजनों के समभाव में धर्म कहा है। महावीर की इस विनम्रता और उदारता को समझिये और उससे प्रेरणा लीजिए। आचारांग में वे कहते हैं –

'जे अरहन्ता भगवन्ता पडिपुन्ना, जे वा आगमिस्सा, जे वा आसि ते सव्वे इमं भासंति,

परुवेंति सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, एस धम्मो सुद्धो णिच्चो सासयो।'

जो अरहंत हो चुके हैं, जो होंगे और जो हैं, वे सब एक ही बात कहते हैं कि किसी भी प्राणी को दुःख या पीड़ा नहीं देना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।

इसलिये, मेरा निवेदन है कि महावीर को किसी धर्म विशेष के साथ बाँधे नहीं। उनको किसी एक धर्म और सम्प्रदाय के साथ बाँध करके हम उनके साथ न्याय नहीं कर पायेंगे।

मुझे आश्चर्य लगता है जब विद्वान यह कहते हैं कि भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्त्तक हैं। मित्रों विचार करें। यह 'जैन' शब्द कब का है? छठवीं शताब्दी के पहले हमें 'जैन' शब्द का कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता।

जब भी महावीर से कोई उनका परिचय पूछता था, तो वे कहते थे--मैं श्रमण हूँ, निर्ग्रन्थ हूँ। निर्ग्रन्थ कौन हो सकता है? महावीर कहते थे- 'जे मणं परिजाणइ से निर्गन्थ'-जो मन का दृष्टा है, वही निर्ग्रन्थ है। महावीर अपने आपको किसी घेरे में बांध करके खड़ा होना ही नहीं चाहते थे। जो भी मन का दृष्टा है, जो अपने विचारों का, विकारों का और अपनी वासनाओं का साक्षी है, दृष्टा है, वही निर्ग्रन्थ है। अपने हृदय की ग्रन्थि को देख लेना, यही निर्ग्रन्थ की पहचान है। उनकी साधना यात्रा प्रारम्भ होती थी-अन्तरदर्शन से, अन्दर झांकने से। यही उनका आत्मदर्शन था। महावीर ने जो सिखाया, वह यही कि व्यक्ति अपने अन्दर देखे, अपने आपको परखे, क्योंकि यही वह मार्ग था, जो कि व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक विकास की दिशा में ले जाता है। महावीर ने सम्पूर्ण जीवन में जो कुछ कहा और जो कुछ किया, उसका मूलभूत सार तत्त्व यही है। महावीर जीवनपर्यन्त यही कहते रहे-ज्ञाता और दृष्टा बनो। यही वह मूल आधार है, जहाँ स्थित होकर आत्मविश्लेषण द्वारा हम अपनी और समाज की सारी समस्याओं को सुलझा सकते हैं। आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम अपने भीतर की वासनाओं, कषायों के कूड़े-कचरे को न देखकर, यही नहीं अपितु उस पर सुनहरा आवरण डालकर अपना जीवन व्यवहार चलाना चाहते हैं। इसके कारण न केवल हमारा जीवन विषाक्त बनता है, वरन् सामाजिक परिवेश भी प्रभावित होता है। महावीर ने कहा था कि जब तक तुम अपने आपको वासनाओं और कषायों से ऊपर नहीं उठा सकते, तब तक तुम लोकमंगल की साधना नहीं कर सकते।

हम जानते हैं कि महावीर के जीवन के साढ़े बारह वर्ष कठोर साधना के वर्ष हैं। उन वर्षों में उन्होंने कोई उपदेश नहीं दिया। जैनों की एक परम्परा तो यहाँ तक कहती है कि उसके बाद भी भगवान् बोले नहीं, लेकिन आज हम सब अधिक मुखर हो गये हैं। हम बोलते अधिक हैं और करते कम हैं। महावीर ने बोला बहुत अल्प और किया बहुत अधिक। महावीर का दर्शन था कि यदि आप अपने जीवन को परिष्कृत कर लेते हैं, तो आपका जीवन ही बोलेगा। ऐसे व्यक्ति के लिए शाब्दिक उपदेश देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसकी जीवन शैली ही उपदेश है। आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारा जीवन नहीं बोलता है, हम मात्र उपदेश देते हैं। महावीर के जीवन और दर्शन में कितनी व्यापकता एवं उदारता थी, इसकी कल्पना हम महावीर को जैन धर्म के चौखट में खड़ा करके नहीं देख सकते। बुद्ध और महावीर दोनों के साथ सम्भवतः यह अन्याय हुआ है कि एक वर्ग विशेष ने जब उन्हें अपना लिया, तो दूसरे वर्ग ने उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। अगर हम जैनधर्म और बौद्धधर्म के प्राचीनतम स्वरूप को देखें, तो ज्ञात होगा कि महावीर और बुद्ध भारत की उसी ऋषि परम्परा के अंग हैं, जिनके उल्लेख वैदिक परम्परा के उपनिषदों में, जैन परम्परा के ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में तथा बौद्ध परम्परा के थेरगाथा और सुत्तनिपात में मिलते हैं। मुझे अपने अध्ययन के दौरान ऋषिभाषित के अध्ययन का सौभाग्य मिला है। प्राकृत का यह ग्रन्थ, जो किसी समय जैन आगम साहित्य का एक भाग था, शताब्दियों से जैनों में भी उपेक्षित बना रहा। जहाँ उसमें निर्ग्रन्थ परम्परा के पार्श्व और महावीर के वचनों का संकलन है, वहीं उसमें औपनिषदिक परम्परा के नारद, अरुण, उद्दालक और भारद्वाज आदि का, बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त और सारिपुत्त, महाकाश्यप आदि का तथा अन्य श्रमण परम्पराओं के मंखलीगोशाल, संजय वेलट्ठीपुत्त आदि का भी उल्लेख है। उन सबके लिए 'अर्हत्'– इसी विशेषण का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थकार के लिए महावीर भी अर्हत् ऋषि हैं।

यदि आप उस ग्रन्थ को पढ़ें, तो आपको यह स्पष्ट लग सकता है कि वह ग्रन्थ किसी परम्परा के आग्रह से जुड़ा हुआ नहीं है। महावीर ने जो वैचारिक उदारता दी थी, उसी का परिणाम यह ग्रन्थ था। सम्भवतः, जो दुर्भाग्य प्रत्येक महापुरुष के साथ होता है, वही महावीर के साथ भी घटित हुआ। कुछ लोग उनके आसपास घेरा बना करके खड़े हो गये और इस प्रकार वे समाज के अन्य वर्गों से कट गये। अगर हम आज भी भारतीय चिन्तन की उदार चेतना को सम्यक् रूप से कुछ समझना चाहते हैं, तो मैं आपसे कहूँगा कि हमें

उपनिषदों ऋषिभाषित और थेरगाथा जैसे ग्रन्थों का निष्पक्ष भाव से अध्ययन करना चाहिए। मित्रों ! अगर बौद्ध यह समझते रहे कि थेरगाथा के सारे 'थेर' बौद्ध थे और जैन यह समझते रहें कि 'इसिभासियाइं' के सारे ऋषि जैन थे, तो इससे बड़ी भ्रान्ति और कोई नहीं होगी। थेरगाथा में वर्द्धमान थेर हैं और यह वर्द्धमान थेर लिछवी–पुत्र हैं, यह बात उसकी अट्ठकथा कह रही है, तो क्या हम यह मानें कि वर्द्धमान बुद्ध का शिष्य या बौद्ध था। मित्रों! हमारा जो प्राचीन साहित्य है, वह उदार और व्यापक दृष्टि से युक्त है और महावीर ने जो हमको जीवनदृष्टि दी थी–वह दृष्टि थी– वैचारिक उदारता की।

आपको मैंने अपने वक्तव्य के पूर्व में संकेत किया था कि महावीर और बुद्ध जिस काल में जन्में थे, वह दार्शनिक चिन्तन का काल था। अनेक मत–मतान्तर, अनेक दृष्टिकोण, अनेक विचारधारायें उपस्थित थीं। महावीर और बुद्ध–दोनों के सामने यह प्रश्न था कि मनुष्य इन विभिन्न दृष्टिकोणों में किसको सत्य कहे। महावीर ने कहा कि सभी बातें अपने–अपने दृष्टिकोण या अपेक्षाभेद से सत्य हो सकती हैं, इसलिए किसी को भी गलत मत कहो, जबकि बुद्ध ने कहा कि तुम इन दृष्टियों के प्रपंच में मत पड़ो, क्योंकि ये दुःख विमुक्ति में सहायक नहीं हैं।

एक ने इन विभिन्न दृष्टियों से ऊपर उठाने की बात कही, तो दूसरे ने उन दृष्टियों को समन्वय के सूत्र में पिरोने की बात कही। सूत्रकृताङ्गसूत्र में महावीर कहते हैं––

'सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारे ते विउस्सिया।।'

जो अपने–अपने मत की प्रशंसा करते हैं और दूसरे के मतों की निन्दा करते हैं और जो सत्य को विद्रूपित करते हैं, वे संसार में परिभ्रमण करेंगे।

आज हमारे दुर्भाग्य से देश में धर्म के नाम पर संघर्ष हो रहे हैं। क्या वस्तुतः संघर्ष का कारण धर्म है? क्या धर्म संघर्ष सिखाता है? मित्रों! मूल बात तो यह है कि हम धर्म के उत्स को ही नहीं समझते हैं, हम नहीं जानते हैं कि वस्तुतः धर्म क्या है? हम दो धर्म के नाम पर आरोपित कुछ कर्मकाण्डों, कुछ रूढ़ियों या कुछ व्यक्तियों से अपने को बांध करके यह कहते हैं कि यही धर्म है। महावीर ने इस तरह के किसी भी धर्म का उपदेश नहीं दिया। महावीर ने कहा था कि 'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ', धर्म तो शुद्ध चित्त में रहता है। धर्म 'उजुभूयस्स' चित्त की सरलता में है। वस्तुतः, जहाँ सरलता है, सहजता है, वहीं धर्म है।

धर्म है क्या? महावीर ने कहा था कि 'समियाए आयरिए धम्मे पव्वइये' समभाव में समत्व की साधना में ही आर्यजनों ने धर्म कहा है। महावीर कहते हैं कि जहाँ भी समत्व की साधना है, जहाँ भी व्यक्तियों को तनाव से मुक्त करने का कोई प्रयत्न है, वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन से तनाव और संघर्ष को समाप्त करने का कोई प्रयास है, वहीं धर्म है। ऐसा धर्म, चाहे आप उसे जैन कहें, बौद्ध कहें, हिन्दू कहें, वह धर्म, धर्म है और सभी महापुरुष धर्म के इसी उत्स का प्रवर्त्तन करते हैं।

महावीर का जो जीवन और दर्शन है वह हमारे सामने इस बात को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है कि हम वैयक्तिक जीवन में वासनाओं से ऊपर उठें, अपने विकारों पर नियंत्रण का प्रयत्न करें और सामाजिक जीवन में लोकमंगल की साधना करें। वैयक्तिक जीवन में वासनाओं से शुद्धि और सामाजिक जीवन में संघर्षों का निराकरण–ये दो बातें ऐसी हैं, जो महावीर के जीवन और दर्शन को हमारे सामने सम्यक् रूप से प्रस्तुत करती हैं।

अनेकान्त का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से इस बात को बताता है कि व्यक्ति अपने को आग्रह के घेरे में खड़ा न करे। सत्य का सूरज किसी एक के घर को प्रकाशित करेगा और दूसरे के घर को प्रकाशित नहीं करेगा, यह नहीं हो सकता। सूरज का काम है–प्रकाश देना, जो भी अपना दरवाजा, अपनी छत, खुली रख सकेगा उसके यहाँ सूर्य का प्रकाश आ ही जायेगा। मित्रों! यही स्थिति सत्य की है। यदि आपके मस्तिष्क का दरवाजा या खिड़की खुली है, तो सत्य आपको आलोकित करेगा ही, लेकिन अगर हमने अपने आग्रहों के दरवाजों से अपनी मस्तिष्क की खिड़की को बन्द कर लिया है, तो सत्य का प्रकाश प्रवेश नहीं करेगा। सत्य न तो मेरा होता है, न पराया ही। वह सबका है और वह सर्वत्र हो सकता है। 'मेरा सत्य'–यह महावीर की दृष्टि में सबसे बड़ी भ्रान्ति है। आचार्य सिद्धसेन महावीर की स्तुति करते हुए कहते हैं कि –'भद्दं मिच्छादंसण समूह मइयस्स अमयसारस्स', 'हे प्रभु! मिथ्या दर्शन समूह रूप में अमृतमय आपके वचनों का कल्याण हो।' महावीर का अपना कुछ भी नहीं है–जो सबका है, वही उनका है और अगर हम दार्शनिक गहराई में न जायें और महावीर के दर्शन को जीवन–मूल्यों के साथ जोड़ें, तो हम पायेंगे कि वह वैयक्तिक जीवन में और सामाजिक जीवन में संघर्षों के निराकरण और समत्व की साधना की बात कहता है। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में अहिंसा के साठ नाम दिये हैं। जितने सारे सद्गुण हैं, वे समस्त सद्गुण अहिंसा में समाहित हैं। अहिंसा और अनेकान्त–

ये दो महावीर के धर्मचक्र के दो पहिये हैं, जिनके आधार पर धर्मरूपी रथ आगे बढ़ता है।

मैं अब आपका अधिक समय नहीं लेना चाहूँगा और अन्त में यही कहना चाहूँगा कि अगर महावीर को समझना है, तो उन्होंने वैयक्तिक जीवन में जो कठोर साधनाएँ की हैं, उनकी ओर देखें। यह देखें कि वासनाओं और विकारों से कैसे लड़ें? यदि सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में उनके जीवन को समझना है, तो उनकी वैचारिक उदारता और लोकमंगल की कामना को समझें और जियें। सम्भवतः, तभी हम महावीर को सम्यक् प्रकार से समझ सकेंगे।

***

भगवान् महावीर की जीवन दृष्टि

ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी को हम पुनर्जागरण का युग कह सकते हैं। चाहे वह भारत हो या चीन, मिस्र हो, रोम हो या ग्रीस– सभी देशों में हमें इस युग में मानवीय चिन्तन एक नया मोड़ लेता हुआ प्रतीत होता है। पुराने जीवन–मूल्यों के आधार पर नये जीवन–मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रयास परिलक्षित होते दिखाई देते हैं। चीन में ताओ और कन्फ्यूशियस, भारत में औपनिषदिक् चिन्तकों के साथ श्रमण परम्परा में अनेक विचारक तथा ग्रीस में पाइथोगोरस और सुकरात आदि सभी प्रबुद्ध विचारक इन्हीं शताब्दियों के आसपास जन्में हैं। जैन परम्परा के अंतिम तीर्थंकर महावीर भी इसी युग की एक विभूति हैं। महावीर की महत्ता एक अन्यतम साधक के रूप में तो लोकविश्रुत है ही, किन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उनकी नवीन जीवनदृष्टि थी, जिसने मानव समाज को एक नयी दिशा प्रदान की।

महावीर का जीवन–दर्शन मानवीय मूल्यों और मानव की गरिमा का प्रतिष्ठापक है। महावीर जिस युग में जन्में, उस युग में मानव और मानवीय चेतना को पददलित किया जा रहा था। ईश्वरवाद ने मनुष्य को ईश्वरीय इच्छा का मात्र एक यन्त्र बना दिया था। मनुष्य की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सत्ता से भी इन्कार किया जा रहा था। उसके अस्तित्व की कोई अहमियत नहीं रह गई थी। मात्र यही नहीं, मानव–समाज में भी श्रेष्ठ और कनिष्ठ की भेदरेखा खींचकर केवल कुछ ब्राह्मणों और कुछ संभ्रान्त शासकों ने समग्र मानवता को अपनी इच्छा और वासनापूर्त्ति का एक साधन बना रखा था। महावीर की महत्ता इसी बात में है कि उन्होंने मानव की खोयी गरिमा को पुनर्स्थापित किया और उसे अहसास कराया

कि वह किसी का दास और सेवक नहीं है। उपास्य व उपासक का द्वैत झूठा है। महावीर ने कहा– 'हे मनुष्य! तू स्वयं परमात्मा है, तू स्वयं ही अपना नियन्ता और शासक है। न तो तेरा कोई भाग्यविधाता है और न कोई किसी का दास या सेवक ही है।' महावीर ने उस युग में जो कुछ कहा था, उसे एक उर्दू शायर के निम्नलिखित शब्दों में सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है–

इंसा की बदबख्ती अंदाज के बाहर है।
कम्बख्त खुदा होकर बंदा नजर आता है।।

महावीर ने मनुष्य को जो अहसास कराया, वह था––उसमें परमात्त्व तत्त्व का अहसास प्रसुप्त होना, अर्थात् जीवन में प्रसुप्त जिन का बोध। महावीर का उद्‌घोष था– 'अप्पा सो परमप्पा।'

महावीर ने मनुष्य को जो सिखलाया, उसका सार था कि अपनी सत्ता का अहसास करो, अपने को पहचानो, ऐसा कुछ भी नहीं है, जो तुम्हें कोई दूसरा दे सकेगा। तुम स्वयं सम्राट होकर भिखारी क्यों बने हुए हो। अपनी अनन्त और असीम सत्ता का अनुभव करो। तुम्हारा यह भिखारीपन, तुम्हारी यह बन्दगी, सब कुछ तुम्हें अनावश्यक प्रतीत होगी। विश्व के विविध धर्मों में जैनधर्म की यदि कोई विशिष्टता खोजी जा सकती है, तो वह यह कि उसने मनुष्य को अपनी खोई हुई गरिमा वापस दिलाई, उसने मनुष्य को सेवक नहीं, स्वामी बनाया, शासित नहीं, शासक बनाया।

महावीर की जीवनदृष्टि का एक दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है – मानव समाज की समता। महावीर का युग वह युग था, जब मनुष्य, मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींच दी गई थीं। कुछ लोगों को शूद्र और अछूत कहकर समाज में ठुकराया गया था। महावीर ने इन बातों को अनुचित बताया और कहा कि श्रेष्ठता और कनिष्ठता का आधार किसी जाति, वर्ण या कुल में जन्म लेना नहीं, अपितु व्यक्ति का अपना नैतिक और आध्यात्मिक विकास है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि व्यक्ति जन्म से न तो ब्राह्मण होता है, न क्षत्रिय होता है, न वैश्य या शूद्र। यह तो व्यक्ति का आचरण है, जो उसे इन वर्गों में बाँट देता है। यदि व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करे और अपनी वासनाओं, आवेगों से स्वयं को मुक्त रख सके, तो वह चाहे किसी भी कुल में क्यों न जन्मा हो, सभी के लिए श्रेष्ठ बन जाता है।

महावीर का स्पष्ट उद्घोष था कि, न कोई हीन है और न ही कोई उच्च, हीनता और उच्चता की भावना सामाजिक समता को विश्रृंखलित करती है, अतः स्वस्थ समाज रचना के लिए हमें इससे ऊपर उठना होगा। महावीर ने सभी की समता को स्वीकार किया है। उन्होंने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि समृद्धशाली और निर्धन में कोई भेद की दीवार मत खींचो। सभी को समान रूप से सन्मार्ग की शिक्षा दो और सभी के यहाँ से समान रूप से भिक्षा प्राप्त करो। इस प्रकार, महावीर सामाजिक समता के पोषक थे।

महावीर की जीवनदृष्टि का तीसरा पहलू था कि वे दूसरों के अस्तित्व और दूसरों के विचारों को भी सम्मान देना अत्यावश्यक मानते थे। दूसरों के अस्तित्व के प्रति सम्मान का अर्थ था कि व्यक्ति को अन्य किसी का साधन के रूप में प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। इसी से अहिंसा के सिद्धान्त का प्रकटन होता है, जो शोषण का– चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, विरोध है। शोषण के मूल में स्वार्थ की भावना होती है। स्वार्थ से संग्रह की प्रवृत्ति पनपती है और उसी के परिणामस्वरूप संचय होता है। संचय महावीर की दृष्टि में सामाजिक हिंसा है, क्योंकि वह व्यक्ति को दूसरों के उपभोग से वंचित करता है।

इसी प्रकार, दूसरों के विचारों का सम्मान ही महावीर के अनेकान्त दर्शन का आधार बना। महावीर यह मानकर चलते थे कि सत्य के सूर्य का उदय किसी के भी आंगन में हो सकता है, अतः वे कहते थे 'सत्य जहाँ कहीं भी हो–उसे स्वीकार करो। यह मत मानो कि मैं जो कुछ कहता हूँ और जानता हूँ, वही सत्य है। तुम्हारा विरोधी भी अपनी दृष्टि से सत्य हो सकता है।' महावीर का यह अनेकान्त वस्तुतः वैचारिक सहिष्णुता का प्रतीक है। आज विश्व में शोषण, असहिष्णुता और हिंसा का जो ताण्डव हो रहा है अथवा होने जा रहा है, उससे बचने के लिए हमारे पास महावीर का दर्शन ही एक ऐसा विकल्प है, जिसे अपनाकर मानव जाति के अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते हैं।

सम्यक् जीवनदृष्टि का विकास आवश्यक

मानव व्यक्तित्व का विकास उसकी अपनी जीवन–दृष्टि पर आधारित होता है। व्यक्ति की जैसी जीवन–दृष्टि होती है, उसी के आधार पर उसके विकास की दिशा निर्धारित होती है। कहा भी गया है कि 'यादृश दृष्टि, तादृश सृष्टि', व्यक्ति की जिस प्रकार की जीवनदृष्टि होती है, उसी प्रकार उसका जीवन व्यवहार होता है और जैसा जीवन

व्यवहार होता है, वैसा ही बन जाता है। आत्मविकास के आकांक्षी तो सभी व्यक्ति होते हैं, किन्तु उनके विकास की दिशा सम्यक् है या नहीं यह बात उनकी सम्यक् जीवनदृष्टि पर ही निर्भर है। अतः, महावीर के दर्शन में सम्यक् जीवनदृष्टि के विकास पर बल दिया गया है। जब व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् होगा, तब ही उसका आचार–व्यवहार भी सम्यक् हो सकेगा। जब तक दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होगा तब तक व्यक्ति का ज्ञान और आचरण सम्यक् नहीं होगा। यही कारण है कि चाहे जैनों का त्रिविध साधना मार्ग हो या बौद्धों का अष्टांगिक मार्ग अथवा गीता का योग मार्ग हो, उसमें प्रथम स्थान सम्यक् दर्शन या सम्यक् दृष्टि को ही दिया गया है। सम्यक् जीवनदृष्टि ही व्यक्ति के आत्मविकास की सम्यक् दिशा निर्धारित करती है और उसी के आधार पर व्यक्ति सम्यक् दशा को प्राप्त करता है। किन्तु यह सम्यक् दशा अर्थात् मानव जीवन के लक्ष्य की पूर्णता तभी सम्भव होगी जब हमारे जीवन की दिशा अर्थात् जीवन जीने की पद्धति और जीवनदृष्टि परिवर्तित होगी। यही कारण था कि भारतीय दर्शन ने दर्शनविशुद्धि अर्थात् जीवन जीने के सम्यक् दृष्टिकोण पर सबसे अधिक बल दिया। अतः, यहाँ महावीर का जीवन दर्शन अर्थात् जीवन जीने की दृष्टि क्या है? इसे समझना परमावश्यक है।

जीवन का सम्यक् लक्ष्य समत्व का अर्जन और ममत्व का विसर्जन

किसी भी धर्म के जीवन दर्शन के लिए सबसे पहली आवश्यकता जीवन के सम्यक् या आदर्श लक्ष्य के निर्धारण की होती है। भारतीय दर्शनों में जीवन का लक्ष्य समभाव या समत्व की उपलब्धि बताया गया है। दूसरे शब्दों में जीवन में, समत्व का अवतरण हो यही जीवन का सम्यक् लक्ष्य है,क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार आत्मा समत्व रूप है और इस समत्व अर्थात् तनावरहित शुद्ध चेतना को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का लक्ष्य है। इसी बात को आचारांगसूत्र में प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा गया है कि 'आर्यजन समभाव को धर्म कहते हैं।' भारतीय धर्मों के अनुसार साधना का अर्थ और इति–दोनों ही समत्व या समता हैं। समत्व से तात्पर्य है–अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्तवृत्ति में तनाव, विचलन या विक्षोभ नहीं होना। गीता की भाषा में कहें, तो दुःख में अनुद्विग्नता और सुख में विगत–स्पृहा होना ही समता है।

सामान्यतया, विभिन्न धर्मों और दर्शनों में जीवन का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति माना गया है, किन्तु यहां मोक्ष या निर्वाण का क्या अर्थ है, यह समझ लेना आवश्यक है।

जैन दर्शन में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की जो समत्वपूर्ण अवस्था है, वही मोक्ष है।' व्यवहार के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति तनावों से मुक्त होकर आत्मिक शान्ति को प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि यही उसकी आन्तरिक आकांक्षा या निज स्वभाव है। इस प्रकार, वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन के अनुसार जीवन का सम्यक् लक्ष्य तनावों से मुक्त होना ही है। सभी प्रकार के तनाव इच्छा, अपेक्षा और भोगाकांक्षा (तृष्णा) जन्य हैं, अतः महावीर के जीवन दर्शन का लक्ष्य इच्छा और आकांक्षाओं से परे समत्वपूर्ण चैत्तसिक अवस्था की प्राप्ति है।

मानव समाज का यह दुर्भाग्य है कि वह अपनी अन्तरात्मा से तनावों से मुक्त होना चाहता है, किन्तु उसके सारे प्रयत्न तनावों के सृजन के लिए ही होते रहते हैं। इच्छा, आकांक्षा, राग-द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, कपटपूर्ण जीवन-व्यवहार आदि सभी व्यक्ति के जीवन की आत्मतुला को उद्वेलित करते रहते हैं और यही आत्म-असंतुलन या चित्तवृत्ति में विक्षोभ उसे तनावपूर्ण स्थिति में ले जाते हैं। अतः, भारतीय दर्शनों के अनुसार जीवन का लक्ष्य तनावों से मुक्ति ही है, यही वास्तविक धर्म है, सम्यक् साधना है, इसे ही आत्मपूर्णता या आत्मिक शान्ति कहते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि सभी अर्हत् (वीतराग पुरुष) इसी आत्मिक शान्ति की अवस्था में ही प्रतिष्ठित हैं।

अतः, यदि साररूप में कहना हो, तो महावीर के धर्म-दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य तनावों से मुक्ति ही है। वे सभी जीवन व्यवहार, जो मेरे वैयक्तिक जीवन में, मेरे परिवार में, समाज में या राष्ट्र में अथवा समग्र विश्व में तनाव उत्पन्न कर स्वयं को व दूसरों को उद्वेलित करते हैं, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति भंग करते हैं, वे सभी अधर्म हैं। इसके विपरीत, वे सभी प्रयत्न या उपाय, जिनके द्वारा व्यक्ति इन चैत्तसिक विक्षाभों को या चैत्तसिक विचलन को समाप्त कर पाता है, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शान्ति स्थापित करता है, वे सभी धर्म हैं, इसीलिए गीता में भी कहा गया है कि समत्व ही योग है। इसी बात को प्रकारान्तर से भागवत में भी कहा गया है कि समत्व की आराधना ही अच्युत अर्थात् भगवान् की आराधना है। इस प्रकार, भारतीय जीवन दर्शन का प्राथमिक सिद्धान्त है-हम तनावों से मुक्त होकर जीवन जीयें। वर्त्तमान युग में जो भौतिकवादी, भोगवादी और उपभोक्तावादी संस्कृतियों का विकास हुआ है, उसके कारण

आज व्यक्ति अधिक तनावग्रस्त होता जा रहा है। मानव आज जिसे विकास समझ रहा है, वही किसी दिन मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विनाश का कारण सिद्ध होगा। अतः, समत्वपूर्ण या समतावादी जीवनदृष्टि का विकास आवश्यक है। यही महावीर के दर्शन का लक्ष्य है।

आत्मस्वातंत्र्य या परमात्म स्वरूप की उपलब्धि

महावीर के जीवन दर्शन का दूसरा मुख्य संदेश आत्मस्वातंत्र्य है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि भारतीय दर्शनों के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है। उसके अनुसार स्वच्छन्दता अनैतिक है, पाप–मार्ग है और स्वतंत्रता नैतिकता है, धर्म है। सभी व्यक्तियों की यही आकांक्षा रहती है कि वे समस्त प्रकार की परतंत्रताओं या बंधनों से मुक्त हों। यहां परतंत्रता का अर्थ–दूसरों पर निर्भरता है। यहां तक कि श्रमण जीवन दर्शन पर–पदार्थों पर आश्रय ही नहीं, ईश्वर की दासता को भी स्वीकार नहीं करता। इसी बात को एक उर्दू शायर ने इस प्रकार कहा है–

'इंसा की बदबख्ती अंदाज के बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर भी बंदा नजर आता है।।'

वह यह मानता है कि वे चाहे जो भी तत्त्व हों,जो हमें दासता की ओर ले जाते हैं, वे सभी हमारे सम्यक् विकास में बाधक हैं, अतः न केवल मन एवं इन्द्रियों के विषय भोगों की दासता ही दासता है, अपितु किसी परम सत्ता की इच्छा के आगे समर्पित होकर अकर्मण्य हो जाना भी एक प्रकार की दासता ही है। महावीर का दर्शन उपास्य और उपासक, भक्त और भगवान् के भेद को शाश्वत मानकर चलने को भी एक प्रकार की परतंत्रता ही मानता है, इसलिए उनकी मुक्ति की अवधारणा यही रही है कि व्यक्ति परमात्म दशा को उपलब्ध हो जाए। 'अप्पा सो परमप्पा'–यह उनके जीवन दर्शन का मूल सूत्र है। वह यह मानता है कि तत्त्वतः आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। सभी प्राणी परमात्मरूप हैं। हम तत्त्वतः परमात्मा ही हैं। हममें और परमात्मा में यदि कोई भेद है तो वह इतना कि हम अभी अविकास की अवस्था में हैं, हम अपने में उपस्थित उस परमात्म सत्ता को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। जैन दर्शन की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य परमात्मस्वरूप की उपलब्धि ही है। भारतीय वेदान्त का तो सूत्रवाक्य ही 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म।' 'अयम् आत्मा ब्रह्म। तत्त्वमसि।' हममें और परमात्मा में वही अंतर है, जो एक बीज

और वृक्ष में होता है। बीज में वृक्ष निहित है, किन्तु अभिव्यक्त नहीं हुआ है। उसी प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति में परमात्म तत्त्व निहित है, किन्तु वह पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ है। बीज जब अपने आवरण को तोड़कर विकास की दिशा में आगे बढ़ता है, तो वह वृक्ष का रूप ले लेता है। इसी प्रकार से व्यक्ति भी अपने वासनारूपी आवरणों को तोड़कर परमात्म अवस्था को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा को पाने का अर्थ अपने में निहित परमात्म तत्त्व की अभिव्यक्ति ही है, परमात्मा कोई बाह्य वस्तु नहीं है, वह तो हमारा ही शुद्ध स्वरूप है, इसीलिए जैन दर्शन में परमात्म भक्ति का लक्ष्य है– 'वन्दे तद्गुण लब्धये'। अर्थात् परमात्मस्वरूप की उपलब्धि ही व्यक्ति की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य है। परमात्म सत्ता व्यक्ति से भिन्न नहीं है, वह बाहर नहीं है, वह हममें ही निहित है, अतः जैन दर्शन में परमात्म भक्ति का अर्थ कोई याचना या समर्पण नहीं है, अपितु अपनी अस्मिता को पूर्ण अभिव्यक्ति देना है। किसी जैन कवि ने कहा है–

अज कुलगत केशरी रे लहे रे निजपद सिंह निहार।
तिम प्रभु भक्ति भवि लहे रे निज आतम संभार।।

स्वतंत्रता व्यक्ति का स्वतःसिद्ध अधिकार है

महावीर के दर्शन की मान्यता है कि स्वतंत्रता व्यक्ति का स्वतःसिद्ध अधिकार है। हम तत्त्वतः स्वतंत्र हैं, परतंत्रता हमारी ममत्ववृत्ति के कारण हमारे स्वयं के द्वारा आरोपित है। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता हमारा निज स्वभाव है और परतंत्रता हमारा विभाव है, विकृत मनोदशा है, अतः विभाव को छोड़कर स्वभाव में आना ही स्वतंत्रता की या आत्मपूर्णता की उपलब्धि है और भारतीय दर्शनों के अनुसार भी 'आत्मा का परमात्मा बन जाना,यही मुक्ति है'। परतंत्रता 'पर' के कारण नहीं है, वह 'स्व' पर आरोपित है। 'पर' में ममत्ववृत्ति या मेरेपन का आरोपण कर व्यक्ति स्वयं ही बन्धन में आ जाता है। हमारे बन्धन का हेतु या कारण हम स्वयं हैं। भारतीय संस्कृति मानती है कि मिथ्या दृष्टिकोण, असंयम, प्रमाद (असहजता), कषाय और मन–वचन–काया की स्वछंद प्रवृत्तियों के कारण व्यक्ति बंधन में आता है। परतंत्रता तो स्वयं आरोपित है, अतः उससे मुक्ति संभव है। गुलामी, चाहे वह 'मन' की हो या ऐन्द्रिक विषयों की तृष्णाजनित, वह हमारे द्वारा ही ओढ़ी गई है, अतः सम्यक् जीवन दृष्टि के विकास के साथ मुक्ति के द्वार स्वतः उद्घाटित हो जाते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो इस स्वयं के द्वारा

आरोपित या ओढ़ी गई गुलामी से मुक्त हो सकता है, क्योंकि उसमें आत्म–सजगता, विवेकशीलता और संयमन की शक्ति है। आवश्यकता है, उसे अपनी इस स्वतंत्र अस्मिता का या 'पर' निरपेक्ष स्व–स्वरूप का बोध कराने की। हमारी मोह निद्रा या अज्ञानदशा ही हमारे बंधन का हेतु है। हमें किसी दूसरी शक्ति ने बंधन में नहीं बांध रखा है, अपितु हम अपनी भोगासक्ति से स्वयं ही बंध गये हैं, अतः उससे हमें स्वयं ही ऊपर उठना होगा। स्व के द्वारा आरोपित 'कारा' को स्वयं ही तोड़ फेंकना होगा। किसी विचारक ने ठीक ही कहा है– 'स्वयं बंधे हैं, स्वयं खुलेंगे, सखे न बीच में बोल।'

इस प्रकार, महावीर की जीवनदृष्टि स्व की स्वतंत्र सत्ता के 'अस्मिता बोध' या 'स्वरूप बोध' का संदेश देती है। भारतीय जीवनदृष्टि की यह चर्चा व्यक्ति स्वयं की अपेक्षा से की गई है। बाह्य व्यवहार या सामाजिक जीवन दर्शन की अपेक्षा से उसने हमें तीन सूत्र दिये हैं–

1. वैचारिक स्तर पर अनाग्रह
2. व्यवहार के स्तर पर अहिंसा
3. वृत्ति के स्तर पर –अनासक्ति

आगे हम इनके सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा करेंगे, किन्तु इसके पूर्व जैन धर्म के इस सूत्र वाक्य को समझ लेना आवश्यक है। जैन धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है –

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यं पीडनं किञ्चित्, जैन धर्मः स उच्यते।।

अर्थात्, जैनधर्म की जीवनदृष्टि का सार यह है कि व्यक्ति पक्षपात या वैचारिक दुराग्रहों से ऊपर उठकर अनाग्रही (स्याद्वादि) दृष्टि को अपनाये और अपने व्यवहार से किसी को किञ्चित् भी पीड़ा न दे।

अहिंसा अर्थात् जीवन का सम्मान

भारतीय चिन्तन में 'अहिंसा' शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन ग्रन्थ प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के निर्वाण, समाधि, शान्ति, विमुक्ति, क्षान्ति (क्षमाभाव), शिव (कल्याणकारक), पवित्र, कैवल्यस्थान आदि 60 पर्यायवाची नाम दिये हैं। संक्षेप में कहें, तो अहिंसा समस्त सद्गुणों की प्रतिनिधि है। सामान्य रूप में अहिंसा का अर्थ है–

जीवन जहाँ भी है और जिस रूप में भी है, उसका सम्मान करो। (इसीलिए महाभारत में अहिंसा को परम धर्म कहा है।) यह मानों कि जिस प्रकार तुम्हें जीवन जीने का अधिकार है, उसी प्रकार संसार के प्रत्येक प्राणी को जीवन जीने का अधिकार है, अतः जीवन के जो-जो रूप हैं, उन्हें पीड़ा या कष्ट देने, त्रास देने, उन्हें विद्रूपित करने, उन्हें प्रदूषित करने या उन्हें नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि सभी प्राणी जीना चाहते हैं, जीवन सभी को प्रिय है, कोई भी मरना नहीं चाहता है, सभी को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, अतः किसी की हिंसा करना, दुःखी करना या त्रास देना पाप है, अनैतिक है, अनुचित है। अहिंसा आर्हत् प्रवचन का सार है, उसे शुद्ध और शाश्वत धर्म कहा गया है, क्योंकि संसार के प्रत्येक प्राणी में जिजीविषा प्रधान है, सभी अस्तित्व और सुख के आकांक्षी हैं- अहिंसा का आधार यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अहिंसा का अधिष्ठान भय नहीं है, जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक मैकेन्जी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू एथिक्स' में मान लिया है, क्योंकि 'भय' तो हिंसा का मूल कारण है। पारस्परिक भय और तद्जन्य अविश्वास से ही हिंसा का जन्म होता है। आज विश्व में हिंसक शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा और देशों के मध्य जो शक्ति-युद्ध का वातावरण बना हुआ है, उसका कारण पारस्परिक अविश्वास और भय की वृत्ति ही है, अतः भारतीय जीवन दर्शन का मूल सिद्धान्त है- परस्पर विश्वास और निर्भयता का विकास करो, क्योंकि इन्हीं से अहिंसा का विकास होगा। अतः, अहिंसा का अधिष्ठान या मनोवैज्ञानिक आधार आत्मतुल्यता, पर-पीड़ा की आत्मवत् अनुभूति और अभयनिष्ठा ही है।

दूसरे, प्राणियों के जीवित रहने और जीवन जीने के साधनों पर सभी के समान अधिकार की तार्किक स्वीकृति से ही अहिंसा का विकास सम्भव है। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की जीवनदृष्टि ही वह तार्किक आधार है, जो अहिंसा की सम्पोषक है। इस प्रकार, अहिंसा की प्रतिष्ठा के मूलाधार हैं- जीवन के प्रति सम्मान, अभय की प्रतिष्ठा, समत्ववृत्ति और आत्मतुला के तार्किक आधार पर दूसरों की पीड़ा को आत्मवत् समझना।

तीसरे, सामान्यतया यह मान लिया जाता है कि हिंसा नहीं करना, किसी को नहीं मारना या कष्ट नहीं देना ही अहिंसा है- यह अहिंसा की आधी-अधूरी अवधारणा है। हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है। यह अहिंसा निषेधात्मक परिभाषा है, लेकिन हिंसा नहीं करना मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों का स्पर्श नहीं करती है, साथ ही हिंसा या अहिंसा का सम्बन्ध मात्र दूसरों से नहीं है। जैन चिन्तकों का कहना

है कि हिंसा स्वयं की भी होती है और दूसरों की भी होती है। मात्र यही नहीं, व्यक्ति पहले स्वयं की हिंसा करता है, फिर वह दूसरों की हिंसा करता है। आत्महिंसा के बिना 'पर' की हिंसा सम्भव ही नहीं है। दूसरों की हिंसा वस्तुतः अपनी हिंसा है और दूसरों के प्रति करुणा या दया अपने प्रति करुणा या दया है।

इसे अधिक स्पष्टता की दृष्टि से समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि दूसरे की हिंसा के पीछे कहीं न कहीं राग–द्वेष, क्रोध, मान, माया एवं लोभ की वृत्ति कार्य करती है–इनसे युक्त होने का अर्थ कहीं न कहीं तनावग्रस्त होना ही है, इनकी उपस्थिति हमारी आत्मिक शांति को भंग कर देती है। शास्त्रीय भाषा में कहें, तो व्यक्ति स्वभाव की दशा छोड़कर विभाव दशा(तनावग्रस्त अवस्था) में आ जाता है। अपने शान्तिमय निज स्वभाव का यह परित्याग ही तो 'स्व' की हिंसा है।

एक अन्य अपेक्षा से जैन दर्शन में हिंसा के दो रूप माने गये हैं। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। वैचारिक स्तर पर कषाय से कलुषित भाव या दूसरे के अहित की भावना–यह 'भाव हिंसा' या हिंसा का मानसिक रूप है। भाव हिंसा ही द्रव्य हिंसा या हिंसा की बाह्य घटना का कारण होती है। इसीलिए, जैन चिन्तकों ने यह माना कि जहाँ दुर्भाव है, दूसरे के अहित की भावना है, वहाँ निश्चय ही हिंसा है, चाहे उसके परिणामस्वरूप हिंसा की घटना घटित हो या नहीं भी हो।

इसलिये, भारतीय जीवन दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति को आत्मसजगतापूर्वक दूसरों के कल्याण की भावना से कार्य करना चाहिए, साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह दूसरों के लिए मंगल भावना से सक्रिय होकर कर्म करे। भारतीय संस्कृति में अहिंसा केवल निष्क्रियता या निषेधात्मक नहीं है, उसका एक सकारात्मक पक्ष भी है, जो सेवा, परोपकार और लोकमंगल की भावना से जुड़ा हुआ है। उसमें नहीं मारने के साथ–साथ बचाने का भाव भी जुड़ा हुआ है। उसके पीछे लोकमंगल या परोपकार के उदात्त मूल्य भी जुड़े हैं, जो पारस्परिक हित–साधन की भावना में अपना साकार रूप ग्रहण करते हैं।

महावीर के साथ भारतीय दर्शनों का मानना है कि जीवन एक–दूसरे के सहयोग के आधार पर चलता है। जीवन जीने में परस्पर सहयोग की भावना होनी चाहिए। परस्पर संघर्ष, संहार या शोषण की भावना नहीं होनी चाहिए। यह अहिंसा के सिद्धान्त का हार्द है। जैन आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में लिखा है– जीवन परस्पर

सहयोग के आधार पर चलता है–(परस्परोपग्रहोजीवानाम्)। जीवन जीने में दूसरों का सहयोग लेना और सहयोग देना–यही एक प्राकृतिक व्यवस्था है। (The Law of life is the law of cooperation). सहयोग ही जीवन का नियम है। प्राकृतिक व्यवस्था की दृष्टि ही सर्वत्र कार्य करती हुई दिखाई देती है, जैसे–हमें जीवन जीने के लिए प्राणवायु (ऑक्सीजन) चाहिए, वह हमें वनस्पति जगत् से मिलती है। वनस्पति जगत् को किसी एक मात्रा में कार्बन डाय ऑक्साइड चाहिए, जिसका उत्सर्जन प्राणी जगत् करता है। प्राणी जगत् के अवशिष्ट मलमूत्र आदि वनस्पति जगत् का आहार बनते हैं, तो वनस्पति जगत के फल आदि उत्पादन प्राणी जगत् का पोषण करते हैं। इस प्रकार, प्रकृति का जीवनचक्र पारस्परिक सहयोग पर चलता है और इसी तरह सन्तुलित बना रहता है। दुर्भाग्य से पश्चिम के एक चिन्तक डार्विन ने इस सिद्धान्त को विकास के सिद्धान्त के नाम पर उलट दिया। उसने कहा – 'अस्तित्व के लिए संघर्ष और योग्यतम की विजय।' मनुष्य ने अपने को योग्यतम मानकर जीव, जातियों और प्राकृतिक साधनों का दोहन किया। जीवों की अन्य प्रजातियों की हिंसा और प्रकृति के जीवन के लिए अंगीभूत या परमावश्यक हवा और पानी को प्रदूषित करने का मार्ग अपनाया। पारस्परिक अविश्वास और भय के बीज बोकर आज मनुष्य ने अपनी ही चिता तैयार कर ली है।

आज जीवन के सभी रूपों के प्रति सम्मान रूप अहिंसा और अभय के सिद्धान्त ही ऐसे हैं, जो मानव अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते हैं। आज संसार के सभी प्राणियों को आत्मवत् मानकर जीवन के सभी रूपों को, चाहे वे सुविकसित हों या अविकसित, उन्हें सम्मान देने की आवश्यकता है, साथ ही इस दृढ़निष्ठा की आवश्यकता है कि प्राणीय जीवन के सहयोगी तत्त्वों यथा–भूमि, जल, वायु और वनस्पति सहित क्षुद्र जीवधारियों का विनाश करने, उन्हें प्रदूषित करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यही अहिंसा की प्रासंगिकता है। संक्षेप में कहें, तो अहिंसा –एक दूसरे के सहयोगपूर्वक लोकमंगल करते हुए जीवन जीने की एक पद्धति है। अहिंसा केवल 'जीओ और जीने दो' के नारे तक ही सीमित नहीं है, वरन् अहिंसा का आदर्श है 'दूसरों के लिए जियो, अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर दूसरों का हित–साधन करते हुए जियो।' इस तरह अहिंसा संकीर्णता की भावना से ऊपर उठकर कर्त्तव्यबुद्धि से लोकहित करते हुए जीने का संदेश देती है।

दूसरों के विचारों या मान्यताओं के प्रति सम्मान का भाव
(Respect of other's Ideology and Faiths)

भारतीय जीवनदृष्टि का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है–दूसरों के विचारों, मान्यताओं, सिद्धान्तों के प्रति समादर या सम्मान का भाव रखना। अपने विरोधी की विचारधाराओं और मान्यताओं में भी अपेक्षाभेद से सत्यता हो सकती है, इसे स्वीकार करना। जैन दर्शन का अनेकांतवाद यह मानता है कि सामान्यतया हमारा ज्ञान सीमित और सापेक्ष है, क्योंकि हमारे ज्ञान के साधन के रूप में हमारी इन्द्रियों का ग्रहण–सामर्थ्य सीमित और सापेक्ष है। दूसरे, जिस भाषा के माध्यम से हम अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते हैं, उसका भी सामर्थ्य सीमित व सापेक्ष है। हमारी घ्राणेन्द्रिय का सामर्थ्य तो चींटी से बहुत कम है और हमारी भाषा अनुभूत गुड़ के स्वाद को भी अभिव्यक्ति देने में कमजोर पड़ जाती है, अतः सीमित और सापेक्ष ज्ञान वाले व्यक्ति को यह अधिकार नहीं कि वह दूसरों की अनुभूतियों, मान्यताओं और विश्वासों को पूर्णतया असत्य या मिथ्या कहकर नकार दे। मेरा ज्ञान और मेरे विरोधी विचारधारा वाले व्यक्ति का ज्ञान या विश्वास भी अपेक्षाभेद से सत्य हो सकता है, यह महावीर के दर्शन के अनेकांतवाद का मुख्य आधार है।

यही बात अनाग्रही, दृष्टि का विकास करती है। वह दूसरों के विचारों, भावनाओं, धार्मिक या दार्शनिक मान्यताओं के प्रति एक सहिष्णु दृष्टि प्रदान करती है। यह वैचारिक अहिंसा है। वह व्यक्ति यह मानता है कि सत्य का सूरज जिस प्रकार मेरे आंगन को प्रकाशित करता है, वैसे ही वह मेरे विरोधी के आंगन को भी प्रकाशित कर सकता है। एक ही वस्तु के दो विरोधी कोणों से लिए गए चित्र एक–दूसरे से भिन्न हो सकते हैं, किन्तु वे दोनों अपने–अपने कोण से सत्य तो हैं ही। इसे ही स्पष्ट करते हुए जैन ग्रन्थ सूत्रकृताङ्गसूत्र में भगवान् महावीर ने कहा है कि जो लोग अपने मत की प्रशंसा करते हैं और अपने विरोधी के मत की निंदा करते हैं, उससे गर्हा करते हैं, वे वस्तुतः सत्य को विद्रूपित करते हैं, वे कभी भी जन्म–मरण के इस चक्र से मुक्त नहीं हो सकते हैं। सत्य सर्वत्र प्रकाशित है, जो भी आग्रह या दुराग्रह के घेरे से उन्मुक्त होकर उसे देख पाता है, वही उसे पा सकता है। दुराग्रह या राग–द्वेष के रंगीन चश्मे पहनकर हम सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। सत्य का साक्षात्कार करने के लिए एक उन्मुक्त दृष्टि का विकास आवश्यक है। सत्य मेरे या पराये के घेरे में आबद्ध नहीं है। जैनाचार्य हरिभद्र ने कहा था– मुझे न महावीर के वचनों के प्रति पक्षाग्रह है और न कपिल आदि के प्रति द्वेष है।

जो युक्तिसंगत है, समुचित है, वही मुझे मान्य है। वस्तुतः, जो पक्षों का आग्रही है, वह सत्य का आग्रही नहीं हो सकता, इसीलिए गांधीजी ने सत्याग्रह की बात की थी।

पक्षाग्रह एक प्रकार का राग ही है, यह सत्य को सीमित और विद्रूपित करता है। पक्षाग्रह से ही विवादों का जन्म होता है, उसके कारण ही सामाजिक जीवन में संघर्ष उत्पन्न होते हैं। वह विग्रह, विषाद और वैमनस्य के बीजों का वपन करता है। अतः, जीवन में अनाग्रही उदार दृष्टिकोण का विकास आवश्यक है। व्यावहारिक समाज-दर्शन के क्षेत्र में जैन जीवन का तीसरा सूत्र है– अनासक्त किन्तु कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन शैली का विकास। जैन दर्शन की मान्यता है कि आसक्ति या तृष्णा ही समस्त दुःखों का मूल है। तृष्णा, भोगासक्ति, इच्छा/आकांक्षा और अपेक्षा से ही तनावों का जन्म होता है। ये तनाव प्रथमतः व्यक्ति को उद्वेलित करते हैं और उद्वेलित या विक्षुब्ध व्यक्ति अपने व्यवहार से परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व को विक्षुब्ध बनाता है। दूसरे शब्दों में, तृष्णा या आसक्ति न केवल वैयक्तिक जीवन की शान्ति भंग करती है, अपितु यह वैश्विक अशांति का भी मूल कारण है इसलिए आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जहाँ-जहाँ ममत्ववृत्ति है, वहाँ-वहाँ दुःख है ही। यह ममत्ववृत्ति (मेरेपन का भाव) ही, तृष्णा ही भोगासक्ति को जन्म देती है। भोगासक्ति से भोगेच्छा जन्म होता है और यहीं से आकांक्षा और अपेक्षाओं का सृजन होता है। इसी के परिणामस्वरूप आज मानव प्रकृति के साथ संवाद स्थापित कर जीने के सामान्य नियम को भूलकर भोगवाद के एक विकृत मार्ग पर जा रहा है। आज मानव ने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति विकसित की है, वही एक दिन मानव जाति की संहारक सिद्ध होगी।

महावीर का कहना है कि आसक्ति या भोगासक्ति से जन्मी उपभोक्तावादी संस्कृति के तीन दुष्परिणाम होते हैं-1.अपहरण (शोषण), 2. प्रकृति के विरुद्ध भोग की प्रवृत्ति और 3. संग्रह या परिग्रह (संचयवृत्ति)। यद्यपि इन तीनों दुष्परिणामों से बचने के लिए जैन आचारशास्त्र में तीन व्रतों की व्यवस्था की गई है-

1. अस्तेय, अर्थात् दूसरों की आवश्यकता की सामग्री पर उनके अधिकार का हनन नहीं करना।
2. भोग और उपभोग की एक मर्यादा/सीमा रेखा निर्धारित करना, अर्थात् जीने के लिए खाना, न कि खाने के लिए जीना।

3. परिग्रह या संचय की एक सीमा निर्धारित करना, अर्थात् आवश्यकता से अधिक संचय नहीं करना। इन तीनों आचार नियमों के पीछे एक ही जीवनदृष्टि रही है और वह है– संयमित जीवन शैली का विकास करना, जो भारतीय संस्कृति का प्राण है।

यह सत्य है कि जीवन जीने के लिए भोगोपभोग आवश्यक हैं और भोगोपभोग के लिए संचय आवश्यक है, किन्तु महावीर का जीवन दर्शन कहता है कि यह मर्यादित होना चाहिए। असीमित भोगाकांक्षा और संचयवृत्ति हमारे जीवन में तनाव या विक्षोभ उत्पन्न करती है, वैयक्तिक जीवन की समता को और वैश्विक शांति को भंग करती है, अतः इन पर नियंत्रण आवश्यक है। इन पर नियंत्रण से ही सम्यक् जीवनदृष्टि का विकास संभव होगा। यह ठीक है कि भोग आवश्यक है, किन्तु वह त्यागपूर्वक, संयमपूर्वक या मर्यादापूर्वक ही होना चाहिए। इसके लिए ईशावास्योपनिषद् का 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' सूत्रवाक्य ही हमारा मार्गदर्शक हो सकती है। दूसरे, आज हम भोग के प्राकृतिक साधनों का अमर्यादित दोहन कर जिस उपभोक्तावादी संस्कृति को अपना रहे हैं, वह उपभोक्तावादी जीवनदृष्टि है। इसमें हम आवश्यकतानुसार उत्पादन की बात भूलकर इच्छाओं के उद्वेलन द्वारा अधिकतम उपभोग के लिए अधिकतम उत्पादन और अधिकतम मौद्रिक लाभ के सिद्धान्त पर चल रहे हैं। आज के उत्पादन का सूत्र वाक्य है– 'अनावश्यक मांगें बढ़ाओ, अपना माल खपाओ और अधिकतम मुनाफा कमाओ।'

महावीर का चिन्तन कहता है कि हमारी आवश्यकताएँ क्या हैं, इसके निर्णायक हम नहीं, प्रकृति या हमारी दैहिक संरचना है। भोग इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए नहीं, अपितु संयमी जीवन की दैहिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए है। आपको जीवन जीने का अधिकार है, किन्तु तब तक, जब तक आपका शरीर साधना में सहायक है, आपका जीवन दूसरों के लिए भार–रूप नहीं बना है। भारतीय जीवनदृष्टि के अनुसार भोग और त्याग दोनों –संयमित जीवन जीने के लिए हैं, अमर्यादित जीवन जीने के लिए नहीं।

साथ ही, संचयवृत्ति भी व्यक्ति की आवश्यकता पर आधारित है, न कि उसकी असीम तृष्णा पर। महावीर का दर्शन कहता है कि जितनी आवश्यकता है, उतना ही संचय करो। इस सम्बन्ध में महाभारत का निम्न श्लोक हमारा मार्गदर्शक है, कहा है–

यावत् भ्रियते जठरं, तावत् स्वत्वं देहीनाम्।
अधिकोयोऽभिमन्यते स्तेन एव सः।।

अर्थात्, पेट के लिए जितना आवश्यक है, उतने पर ही व्यक्ति का अधिकार है, जो इससे अधिक पर अपना अधिकार जमाता है, वह चोर है।

भारतीय चिन्तन इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहता है– जो धन, सम्पत्ति आदि पर–पदार्थ हैं, उन पर हमारा कोई स्वामित्व हो ही नहीं सकता। 'पर' को अपना मानना उस पर मालिकाना हक जताना मिथ्यादृष्टि है। हमें आवश्यकतानुरूप वस्तु के 'उपयोग' का अधिकार है, स्वामित्व का अधिकार नहीं है। (We have only right to use them, not the ownership) दूसरे, यह भी कहा जाता है कि यदि पर–पदार्थों के प्रति आसक्ति या रागभाव नहीं होगा–उदासीनवृत्ति होगी, तो फिर जीवन में सक्रियता समाप्त हो जाएगी, व्यक्ति अकर्मण्य बन जाएगा, क्योंकि रागात्मकता या ममत्ववृत्ति या स्वामीत्व की भावना ही व्यक्ति को सक्रिय बनाए रखती है। इसके उत्तर में महावीर की जीवनदृष्टि एक सूत्र देती है कि –'कर्त्तव्यबुद्धि (Sense of duty) से जियो, न कि ममत्वबुद्धि (Sense of attachment) से।' इस सम्बन्ध में जैन परम्परा में निम्न दोहा प्रचलित है, जो जीवनदृष्टि को स्पष्ट कर देता है–

सम्यक् दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब परिपाल।
अन्तरसूं न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल ।।

महावीर के दर्शन का सार यह है कि 'कर्त्तव्यबुद्धि से जीवन जियो, ममत्वबुद्धि से नहीं।'

***

2 भगवान् महावीर का जन्मस्थल : एक पुनर्विचार

जैन धर्म में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में निर्विवाद रूप से मान्यता प्राप्त हो चुकी है, फिर भी दुर्भाग्य का विषय यह है कि न केवल उनके जन्म एवं निर्वाण काल के सम्बन्ध में, अपितु उनके जन्मस्थान, कैवल्यज्ञानस्थल और निर्वाणस्थल को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। मात्र यही नहीं, इन मान्यताओं के पोषण के निमित्त भी परम्पराओं के घेरे में आबद्ध होकर येन-केन-प्रकारेण अपने पक्षों को सिद्ध करने के लिए प्रयत्न और पुरुषार्थ भी किया जा रहा है। विगत 50 वर्षों में इन सब समस्याओं को लेकर विभिन्न पुस्तिकाएँ और लेख आदि भी लिखे गये हैं। यह कैसा दुर्भाग्य है कि भगवान् महावीर के समकालीन भगवान् बुद्ध के जन्मस्थल, ज्ञानप्राप्तिस्थल और धर्मचक्रप्रवर्त्तनस्थल को लेकर सम्पूर्ण बौद्ध समाज एकमत है और उन ऐतिहासिक स्थलों के विकास के लिए प्राणप्रण से जुटा हुआ है, जबकि जैन समाज आज अपने क्षुद्र स्वार्थों अथवा अहंकारों के पोषण के लिये इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं बना सका। भगवान् महावीर के जन्मस्थल को लेकर वर्त्तमान में तीन मान्यताएँ प्रचलित हैं-

(1) अधिकांश विद्वज्जन एवं इतिहासवेत्ता तथा केन्द्रशासन वैशाली के निकट कुण्डग्राम को उनका जन्म स्थान मानते हैं।

(2) दिगम्बर परम्परा राजगृह और नालन्दा के निकटवर्ती बड़गांव या तथाकथित कुण्डलपुर को महावीर का जन्मस्थल मानती है।

(3) श्वेताम्बर परम्परा बिहार में जमुही के निकट लछवाड़ को महावीर का जन्म स्थान मान रही है।

इस प्रकार, महावीर के जन्मस्थल को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतैक्य नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से विचार करने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया। यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वत् वर्ग एवं इतिहासविदों ने कुछ लेख आदि लिखे हैं, किन्तु पारम्परिक आग्रहों के चलते उनकी आवाज सुनी नहीं गई।

श्वेताम्बर और दिगम्बर पक्षों की ओर से भी महावीर के जन्मस्थल को लेकर कुछ लेख एवं पुस्तिकाओं का प्रकाशन हुआ है और उनमें अपने-अपने पक्षों के समर्थन में कुछ प्रमाण प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया गया है, किन्तु सामान्यतया जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी परवर्तीकालीन ही हैं। प्राचीनतम साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों को जानने का प्रयत्न ही नहीं किया गया, या अपने पक्ष के विरोध में लगने के कारण उनकी उपेक्षा कर दी गई। भगवान महावीर के सम्बन्ध में जो प्राचीनतम प्रमाण उपलब्ध हैं, उनमें आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध लगभग (ई.पू.5वीं शताब्दी), आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध लगभग (ई.पू.प्रथम-द्वितीय शताब्दी), सूत्रकृतांग (ई.पू.दूसरी-तीसरी शताब्दी), कल्पसूत्र (ई.पू.लगभग दूसरी शताब्दी) हैं। कल्पसूत्र में महावीर के विशेषणों की चर्चा उपलब्ध है। उसमें उन्हें ज्ञातृ, ज्ञातृपुत्र, ज्ञातृकुलचंद, विदेह, विदेहदिन्ने अर्थात् विदेहदिन्ना के पुत्र, विदेहजात्य, विदेहसुकुमार आदि विशेषणों से संबोधित किया गया है।[1] ज्ञातव्य है कि यही सब विशेषण आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में भी उपलब्ध हैं (देखें-आचारांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, मुनि आत्मारामजी, लुधियाना, पृ.1373)। इन विशेषणों में भी विदेहजात्य विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि एक बार इस विशेषण का अर्थ वैदेही या वैदेही का पुत्र मानकर यह मान लिया जाय कि ये विशेषण उनके मातृपक्ष के कारण दिये गये होंगे, तब भी विदेहजात्य विशेषण तो स्पष्ट रूप से इस तथ्य को स्थापित करता है कि महावीर का जन्म विदेह क्षेत्र में ही हुआ था, जबकि वर्तमान में मान्य नालंदा के समीपवाला कुण्डलपुर तथा लछवाड़ नहीं माने जा सकते। अतः, महावीर का जन्मस्थान यदि किसी क्षेत्र में खोजा जा सकता है, तो वह विदेह का ही भाग होगा, मगध का नहीं हो सकता।

इसी प्रसंग में कल्पसूत्र में यह भी कहा गया है कि 'तीसं वासाइं विदेहसिं कट्टु', अर्थात् 30 वर्ष विदेह-क्षेत्र में व्यतीत करने के पश्चात् माता-पिता के स्वर्गगमन के बाद गुरु एवं विशिष्टजनों की अनुज्ञा प्राप्त करके उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की।[2]

महावीर का विदेहजात्य होना और फिर गृहस्थावस्था के 30 वर्ष विदेह क्षेत्र में व्यतीत करना – ये दो ऐसे सबल प्रमाण हैं, जिनसे उनके कुण्डलपुर (नालंदा) और लछवाड़ में जन्म लेने एवं दीक्षित होने की अवधारणा निरस्त हो जाती है। श्री सीताराम राय ने महावीर के जन्मस्थान को लछवाड़ सिद्ध करने के लिए और वहीं से दीक्षित होकर कुछ ग्रामों में अपनी विहार–यात्रा करने का संकेत देते हुए उन ग्रामों के नामों की समरूपता को चूर्णि के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है, किन्तु उनके इस प्रयत्न की अपेक्षा जिन विद्वानों ने उनका जन्मस्थान वैशाली के निकट कुण्डग्राम बताया है और आवश्यकचूर्णि के माध्यम से उनके दीक्षित होने के पश्चात् ही विहार यात्रा के ग्राम का समीकरण कोल्लागसन्निवेश (वर्त्तमान कोल्हुआ) आदि से किया है, वह अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। कोल्लाग को सन्निवेश कहने का तात्पर्य यही है कि वह किसी बड़े नगर का उपनगर (कॉलोनी) था और यह बात वर्त्तमान में वैशाली के निकट उसकी अवस्थिति से बहुत स्पष्ट हो जाती है। कल्पसूत्र में उनके दीक्षास्थल का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उन्होंने ज्ञातृखण्डवन में अशाक वृक्ष के नीचे दीक्षा स्वीकार की।[3] इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञातृखण्डवन ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों के अधिकार का वन क्षेत्र था और ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय जिनका कुल लिछवी था, वैशाली के समीप ही निवास करते थे। आज भी उस क्षेत्र में जथेरिया क्षत्रियों का निवास देखा जाता है। 'जथेरिया' शब्द मूलतः ज्ञातृ का ही अपभ्रंश रूप है, अतः यह सिद्ध होता है कि महावीर का जन्म स्थान वैशाली के निकट कुण्डपुर ही हो सकता है। वैशाली से जो एक मुहर प्राप्त हुई है, उसमें वैशालीकुण्ड का ऐसा उल्लेख है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि क्षत्रिय कुण्ड, ब्राह्मण कुण्ड, कोल्लाग आदि वैशाली के ही उपनगर थे। वैशाली गणतंत्र था और इन उपनगरों के नगर–प्रमुख भी राजा ही कहे जाते होंगे, अतः भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ को राजा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। पुनः, कल्पसूत्र में उन्हें राजा न कहकर मात्र क्षत्रिय कहा गया है। भगवान् महावीर का जन्मस्थान वैशाली का निकटवर्ती कुण्डग्राम ही हो सकता है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि भगवान महावीर को सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगम में (1/2/3/22) ज्ञातृपुत्र के साथ–साथ वैशालिक भी कहा गया है। उनके वैशालिक कहे जाने की सार्थकता तभी हो सकती है, जबकि उनका जन्मस्थल वैशाली के निकट हुआ।

कुछ लोगों का यह तर्क कि उनके मामा अथवा नाना चेटक वैशाली के अधिपति थे अथवा माता वैशालिक थीं, इसलिये उन्हें वैशालिक कहा गया, समुचित नहीं है, क्योंकि

मामा या नाना के गांव के निवासस्थान के आधार पर किसी व्यक्ति को तद्नाम से पुकारे जाने की परम्परा नहीं रही है। दूसरे, हम यदि यह भी मान लें कि महावीर का ननिहाल वैशाली था और इसलिये वे वैशालिक कहे जाते हैं, तो एक सम्भावना यह भी मानी जा सकती है कि अपने ननिहाल में जन्म होने के कारण उन्हें वैशालिक कहा गया हो। माता के पितृगृह अथवा सन्तान के ननिहाल में जन्म लेने की परम्परा तो वर्त्तमान में भी देखी जा सकती है, किन्तु जैसा पूर्व में कहा है कि उन्होंने तीस वर्ष तक 'विदेह' में निवास करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की (कल्पसूत्र 110, प्रा.भा.सं.,पृ.160) इस आधार पर यह बात पूर्णतः निरस्त हो जाती है कि उन्हें अपने ननिहाल के कारण वैशालिक कहा जाता था।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया जाता है कि महावीर के पिता राजा थे, किन्तु प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार के राजा थे– स्वतन्त्र राजा थे या गणतंत्र के राजा थे। उन्हें स्वतन्त्र राजा नहीं माना जा सकता, क्योंकि कल्पसूत्र में अनेक स्थलों पर तो 'सिद्धत्थे खत्तिये' अर्थात् सिद्धार्थ क्षत्रिय ही कहा गया है।[4] राजगृह का मगध राजवंश साम्राज्यवादी था, जबकि वैशाली की परम्परा गणतंत्रात्मक थी। गणतंत्र में तो समीपवर्ती क्षेत्रों के छोटे–छोटे गांवों में स्वायत्त शासन–व्यवस्था सम्भव थी, परन्तु साम्राज्यवादी राजतंत्रों में यह सम्भावना नहीं हो सकती। अतः, हम नालंदा के समीपवर्ती कुण्डलपुर को अथवा लछवाड़ को महावीर का जन्मस्थान एवं पितृगृह स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि मगध का साम्राज्य इतना बड़ा था कि उसके निकटवर्ती नालंदा या लछवाड़ में स्वतंत्र राजवंश सम्भव नहीं। वैशाली गणतंत्र में उसकी महासभा में 7707 गणराजा थे।[5] यह उल्लेख भी त्रिपिटक साहित्य में मिलता है, अतः महावीर के पिता सिद्धार्थ को गणराजा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। क्षत्रियकुण्ड के वैशाली के समीप होने से या उसका अंगीभूत होने से महावीर को वैशालिक कहा जाना तो सम्भव हो सकता है। यदि महावीर का जन्म नालंदा के समीप तथाकथित कुण्डलपुर में हुआ होता, तो उन्हें या तो नालंदीय या राजगृहिक– ऐसा विशेषण मिलता, वैशालिक नहीं। जहां तक साहित्यिक प्रमाणों का प्रश्न है गणनी ज्ञानमती माताजी एवं प्रज्ञाश्रमणी चंदनामतीजी ने नालंदा के समीपवर्ती तथाकथित कुण्डलपुर को महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करने के लिए पुराणों और दिगम्बरमान्य आगम ग्रन्थों से कुछ सन्दर्भ दिये हैं। राजमलजी जैन ने इसके प्रतिपक्ष में 'महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर' नामक पुस्तिका लिखी और उन प्रमाणों की समीक्षा भी

की है। हम उस विवाद में उलझना तो नहीं चाहते, किन्तु एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि दिगम्बर परम्परा के आगमतुल्य ग्रन्थ कषायपाहुड़, षट्खण्डागम आदि के जो प्रमाण इन विद्वानों ने दिये हैं, उन्हें यह ज्ञान होना चाहिये कि इन दोनों ग्रन्थों के मूल में कहीं भी महावीर के जन्मस्थान आदि के सन्दर्भ में कोई उल्लेख नहीं है। जो समस्त उल्लेख प्रस्तुत किये जा रहे हैं, वे उनकी जयधवला और धवला टीकाओं से हैं, जो लगभग 9वीं–10वीं शताब्दी की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार, जिन पुराणों से सन्दर्भ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, वे भी लगभग 9 वीं शताब्दी से लेकर 16वीं शताब्दी के मध्य रचित हैं, अतः ये सभी प्रमाण चूर्णि साहित्य से भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं, अतः उन्हें ठोस प्रमाणों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वे केवल सहायक प्रमाण ही कहे जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में श्री राजमलजी जैन ने सिद्ध किया है कि इन प्रमाणों में भी एक दो अपवादों को छोड़कर सामान्यतया कुण्डपुर का ही उल्लेख है। कुण्डलपुर के उल्लेख तो विरल ही हैं और जो हैं, वे भी मुख्यतया परवर्ती ग्रन्थों के ही हैं। यहां हमें यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि जब क्रमशः महावीर के जीवन के साथ चमत्कारिक घटनाएं जुड़ती गईं, तो अहोभाव के कारण क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड को भी नगर या पुर कहा जाने लगा। कल्पसूत्र (पृष्ठ 44) में भी क्षत्रियकुण्डग्राम और ब्राह्मणकुण्डग्राम का ही उल्लेख है। यहां इन्हें जो 'खत्तीयकुण्डगामेनयरे' कहा गया है, उसमें 'ग्राम–नगर' शब्द से यही भाव अभिव्यक्त होता है कि ये दोनों मूलतः तो ग्राम ही थे, किन्तु वैशाली नगर के निकटवर्ती होने के कारण इन्हें ग्राम–नगर संज्ञा प्राप्त हो गई थी। वर्त्तमान में भी किसी बड़े नगर के विस्तार होने पर उसमें समाहित गांव नगर नाम को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः, क्षत्रियकुण्ड ही महावीर की जन्मभूमि प्रतीत होती है और यह वैशाली का ही एक उपनगर सिद्ध होता है। ज्ञातव्य है कि वैशाली का मूल नाम विशाला था। विशाल नगर होने के कारण ही इसका नाम वैशाली पड़ा था। पुरातात्त्विक साक्ष्यों की दृष्टि से वैशाली, नालंदा और लछवाड़ (जो जमुई के निकट हैं) की प्राचीनता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता, किन्तु प्राचीन साहित्य में नालंदा के समीप किसी कुण्डपुर या कुण्डलपुर का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वर्त्तमान लछवाड़, जमुई के निकट है और जमुई के सम्बन्ध में साहित्यिक और पुरातात्त्विक–दोनों ही प्रमाण उपलब्ध हैं। कल्पसूत्र में भगवान महावीरस्वामी के केवलज्ञान स्थान का जो उल्लेख मिलता है, उसमें यह कहा गया है कि 'जंभीयगामस्स अर्थात् जृम्भिक ग्राम के पास ऋजुवालिका नदी के किनारे वैय्यावृत्त चैत्य के न अधिक दूर न अधिक समीप शामक गाथापति के काष्टकरण में

शालवृक्ष के नीचे गौदोहिक आसन में उकड़ूँ बैठे हुए आतापना लेते हुए षष्टभक्त उपवास से युक्त हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग होने पर वैशाख शुक्ला दशमी को अपराह्न में भगवान् महावीर को केवलज्ञान हुआ था।

इससे वर्त्तमान लछवाड़ की, विशेष रूप से जृम्भिक ग्राम की प्राचीनता तो सिद्ध हो जाती है, किन्तु यह महावीर का जन्मस्थल है, यह बात सिद्ध नहीं होती। प्राचीन जो भी उल्लेख हैं, वे मूलतः क्षत्रियकुण्ड से सम्बन्धित हैं। वैशाली के समीप वासोकुण्ड को महावीर का जन्मस्थल मानने के सम्बन्ध में केन्द्रीय शासन और इतिहासज्ञ वर्ग ने जो निर्णय लिया है, वह समुचित प्रतीत होता है।

इसका एक प्रमाण यह भी है कि वैशाली से प्राप्त एक मुद्रा पर 'वैशालीनामकुण्डे' – ऐसा स्पष्ट लिखा हुआ है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैशाली के निकट कोई कुण्डग्राम रहा होगा और यही कुण्डग्राम क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड –ऐसे दो विभागों में विभाजित रहा होगा, अतः भगवान् महावीर के जन्मस्थान को वैशाली के निकटवर्ती वासोकुण्ड को ही क्षत्रियकुण्ड मानना चाहिये। इस सम्बन्ध में एक परम्परागत अनुश्रुति यह भी है कि वासोकुण्ड के उस स्थल पर, जिसे महावीर का जन्मस्थल माना गया है, आज तक हल नहीं चलाया गया है और वहां के निवासी शासकीय एवं विद्वानों के निर्णय के पूर्व भी उस स्थान को महावीर की जन्मभूमि के रूप में उल्लेखित करते रहे हैं। जहां तक नालंदा के समीपवर्ती कुण्डलपुर का प्रश्न है, उसे तो महावीर का जन्मस्थल नहीं माना जा सकता, क्योंकि महावीर जब–जब भी राजगृही आते थे, तब–तब वर्षावास से लिये नालंदा को ही प्रमुखता देते थे, अतः यह तो स्वाभाविक है कि नालंदा के साथ महावीर की स्मृतियां जुड़ी रही हों, किन्तु उसे उनकी जन्मभूमि स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि न तो वहाँ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों का आवास ही था और न मगध जैसे साम्राज्य की राजधानी के एक उपनगर में किसी अन्य राजा का राज्य होने की सम्भावना थी। जमुई के निकटवर्ती लछवाड़ को लछवाड़ नाम कब मिला, यह गवेषणा का विषय है। जमुई की प्राचीनता तो निर्विवाद है और उसका सम्बन्ध भी महावीर के केवलज्ञान स्थल का निकटवर्ती होने से महावीर के साथ जुड़ा हुआ है। किन्तु उसे महावीर का जन्मस्थान न मानकर आगमिक प्रमाणों के आधार पर केवलज्ञान स्थल ही माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा महावीर के कैवल्यभूमि के प्रसंग में करेंगे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर–दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में क्षत्रियकुण्ड या कुण्डपुर

की अवस्थिति विदेह क्षेत्र में बताई गई है। इस तथ्य की पुष्टि में दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों के सन्दर्भ श्री राजमल जैन ने प्रस्तुत किए हैं। पूज्यपाद देवनन्दी की निर्वाणभक्ति में यह उल्लेख किया है कि सिद्धार्थराजा के पुत्र ने भारत देश के विदेह कुण्डपुर में देवी प्रियकारिणी को सुखद स्वप्न दिखाए और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उसने उन्हें जन्म दिया। इसी प्रकार, आचार्य जिनसेन ने (नौवीं शती) हरिवंश पुराण में भारत देश के विदेह क्षेत्र के कुण्डपुर में महावीर के जन्म का उल्लेख किया है। इसी क्रम में, उत्तरपुराण के रचयिता गुणभद्र ने (विक्रम की दसवीं शताब्दी) महावीर के जन्मस्थान कुण्डपुर को भारत के विदेह क्षेत्र में अवस्थित बताया है। इसी पुराण के 75 वें सर्ग में भी 'विदेहविषयेकुण्डसंज्ञायां' पुरी के रूप में उल्लेखित किया गया है। आचार्य पुष्पदंत ने वीरजिनंदचरिउ(विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) में 'वैशाली कुण्डपुरे'–ऐसा उल्लेख किया है। इससे भी ऐसा लगता है कि महावीर की जन्मस्थली कुण्डपुरी वैशाली के निकट ही रही। दामनन्दी ने (10 वीं–11वीं शताब्दी) महावीर के जन्मस्थान कुण्डपुर को विदेह में स्थित बताया है। इसी तथ्य को असग (11 वीं शताब्दी) ने वद्धमान चरित्र में पुष्ट किया है। वे भी महावीर की जन्मस्थली कुण्डपुर की अवस्थिति विदेह क्षेत्र में बताते हैं। श्रीधर रचित वड्ढमानचरिउ (लगभग 12 वीं शती) में भी कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में माना गया है। सकलकीर्ति ने वर्द्धमानचरित्र में कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में अवस्थित माना है। पुनः मुनि धर्मचन्द ने गौतमचरित्र (17वीं शताब्दी) में कुण्डपुर को भरतक्षेत्र में विदेह प्रदेश के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि लगभग ईसा की 5 वीं शताब्दी से लेकर 17 वीं शताब्दी तक दिगम्बर आचार्य एवं भट्टारक कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में ही अवस्थित मान रहे हैं। यहां हमने केवल उन्हीं संदर्भों को उल्लेखित किया है, जिनमें कुण्डपुर को स्पष्ट रूप से विदेहक्षेत्र में अवस्थित बताया गया है। महावीर के जन्मस्थल कुण्डपुर होने के तो अन्य भी कई सन्दर्भ हैं, जिनकी चर्चा श्री राजमल जैन ने की है। वस्तुतः, महावीर का जन्मस्थल विदेहक्षेत्र में स्थित वैशाली का निकटवर्ती कुण्डपुर नामक उपनगर ही रहा है।

परवर्ती साहित्य में कहीं–कहीं कुण्डपुर के कुछ उल्लेख मिलते हैं, जिनकी स्पष्ट समीक्षा श्री राजमल जैन ने की है। हम यहां कुण्डपुर और कुण्डलपुर के विवाद में नहीं पड़ना चाहते। श्वेताम्बर सन्दर्भ तो मूलतः कुण्डग्राम के ही हैं, और उसमें भी स्पष्ट रूप से क्षत्रियकुण्ड के हैं। श्वेताम्बर परम्परा में 14वीं शताब्दी में आचार्य जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थकल्प की रचना की थी। उन्होंने भी महावीर का जन्मस्थल कुण्डग्राम ही

उल्लेखित किया है। श्री राजमल जैन ने अपनी पुस्तक 'महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर' में जो उल्लेख किया है कि कुण्डपुर ही 13वीं शताब्दी तक कुण्डग्राम हो गया होगा, एक भ्रान्ति है। हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं कि कल्पसूत्र आदि में स्पष्ट रूप से 'कुण्डग्राम' का ही उल्लेख है, कुण्डपुर का नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि आगमों में 'कुण्डपुरग्रामनगर' –ऐसा उल्लेख भी मिलता है। मेरी दृष्टि में 'ग्राम–नगर' ऐसा समासपद ग्रहण करने पर इसका अर्थ होगा नगर का समीपवर्ती गांव या वह गांव जो कालान्तर में किसी नगर का भाग या उपनगर बन गया हो।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गणनी ज्ञानमती माताजी ने भी कुण्डलपुर का पक्ष लेते हुए उसे विदेह में स्थित माना है। अब यह प्रश्न वर्द्धमान महावीर के वैशालिक होने का एक अन्य प्रमाण हमें थेरगाथा की अट्ठकथा (व्याख्या) में मिलता है। थेरगाथा में वर्द्धमान थेर का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि दान के पुण्य के परिणामस्वरूप वर्द्धमान ने देवलोक से च्युत होकर गौतमबुद्ध के जन्म लेने पर वैशाली के लिछवी राजकुल में उत्पन्न होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। (इमस्मिं बुद्धपादे वेसालियं लिच्छवि राजकुले निब्बत्ति वड्ढमानो तिस्स नामं अहोसि–थेरगाथा, अट्ठकथा, नालन्दा संस्करण, पृ.153)। इस प्रकार यहाँ उन्हें वैशाली के लिछवी राजकुल में जन्म लेने वाला बताया गया। यद्यपि परम्परागत विद्वानों का यह विचार हो सकता है कि ये वर्द्धमान बौद्ध परम्परा में दीक्षित कोई अन्य व्यक्ति होंगे, किन्तु हमारा यह स्पष्ट अनुभव है कि जिस प्रकार ऋषिभाषित सभी अर्हतऋषि निर्ग्रन्थ परम्परा के नहीं हैं, उसी प्रकार थेरगाथा में वर्णित सभी स्थविर बौद्ध नहीं हैं। वैशाली के लिछवी राजकुल में उत्पन्न बुद्ध के समकालिक वर्द्धमान थेर वर्द्धमान महावीर से भिन्न नहीं माने जा सकते। थेरगाथा की अट्ठकथा के अनुसार उन्होंने आंतरिक और बाह्य संयोगों को छोड़कर, रूपराग, अरूपराग तथा भवराग को समाप्त करने का उपदेश दिया तथा यह कहा है कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को साक्षीभाव से देखते हुए भवराग और संयोजनों का प्रहाण सम्भव है, क्योंकि उनके ये विचार आचारांग एवं उत्तराध्ययन में भी मिलते हैं। इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि थेरगाथा में वर्णित वर्द्धमान थेर अन्य कोई नहीं, अपितु वर्द्धमान महावीर ही हैं। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि महावीर का जन्म वैशाली के लिछवी कुल में हुआ था। महावीर के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संवेग (वैराग्य) उत्पन्न होने पर उन्होंने अग्निकर्म का त्याग करके संघ से क्षमायाचना[7] करके कर्म परम्परा को देखकर प्रव्रज्या ग्रहण की। यह समग्र कथन

भी जैन (निर्ग्रन्थ) परम्परा के अनुकूल ही है। अतः, इससे भी यही सिद्ध होता है कि थेरगाथा के वैशाली के लिछवी कुल में उत्पन्न वर्द्धमान थेर वर्धमान महावीर ही हैं। इस प्रकार बौद्धिक त्रिपिटक साहित्य भी महावीर के जन्म-स्थल के रूप में विदेह के अन्तर्गत वैशाली को ही मानते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में हर्मनजैकोबी, हार्नले, विसेण्टस्मिथ, मुनिश्री कल्याणविजयजी, डॉ.जगदीशचन्द्र जैन, ज्योतिप्रसाद जैन, पं.सुखलालजी आदि जैन-अजैन सभी विद्वान वैशाली के निकटस्थ कुण्डग्राम को ही महावीर का जन्मस्थल मानते हैं।

बौद्धग्रन्थ महावग्ग(ईस्वी पूर्व 5वीं शती) में वैशाली के तीन क्षेत्र माने गये हैं- 1.वैशाली,2.कुण्डपुर, 3. वाणिज्यग्राम। महावीर का लिछवी राजकुल में जन्म मानने पर भी यह स्पष्ट है कि महावग्ग के अनुसार वैशाली में 7707 राजा थे, अतः महावीर के पिता को राजा मानने में बौद्ध साहित्य से भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ 'राजा' शब्द का अर्थ वैशाली महासंघ की संघीय सभा का सदस्य होना ही है।

कुण्डग्राम की वसुकुण्ड से समानता के सम्बन्ध में डॉ.श्यामानंद प्रसाद की यह आपत्ति है कि वसुकुण्ड में केवल कुण्ड शब्द की ही समानता है, 'वसु' शब्द न तो ब्राह्मण का पर्यायवाची हो सकता है, न क्षत्रिय का, अतःउनका कहना है कि वर्त्तमान वसुकुण्ड को महावीर का जन्मस्थान नहीं माना जा सकता, किन्तु डॉ.प्रसाद ने मूल आगम साहित्य को शायद देखने का प्रयास नहीं किया। आचारांगसूत्र में वसु[8] और वीर[9] शब्द का प्रयोग श्रमण के अर्थ में हुआ है। मात्र यही नहीं, 'वसु'शब्द का एक अर्थ जिनदेव या वीतराग भी उपलब्ध होता है। यह सम्भव है कि भगवान् महावीर के संयमग्रहण करने के बाद इस क्षेत्र को क्षत्रियकुण्ड के स्थान पर वसुकुण्ड कहा जाने लगा हो। वर्त्तमान लछवाड़ के समीप जो ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड की कल्पना की गई है, वहाँ इस तरह की कोई बसाहट नहीं है। ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड नाम तो उन्हें महावीर के जन्मस्थल मान लेने पर दिये गये हैं। इस प्रकार, मेरी यह सुनिश्चित धारणा है कि लछवाड़ के समीप जमुई मण्डल के इस क्षेत्र का सम्बन्ध महावीर के साधना एवं केवलज्ञान स्थल से अवश्य रहा है। जिसे वर्त्तमान में लछवाड़ कहा जाता है, उसका सम्बन्छ लिच्छविया से हो सकता है, किन्तु इस नाम की भी प्राचीनता कितनी है यह शोध का विषय है। डॉ.प्रसाद का यह मानना समुचित नहीं है कि वैशाली को महावीर के

जन्मस्थान के रूप में मान्यता 1948 में मिली। इसके पूर्व भी विद्वानों ने वैशाली के निकट और विदेह क्षेत्र में महावीर का जन्मस्थान होने की बात कही है। यह निश्चित है कि लगभग 15-16वीं शती से श्वेताम्बर परम्परा में लछवाड़ के समीपवर्ती क्षेत्र को महावीर के जन्मस्थान मानने की परम्परा विकसित हुई है। भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना प्रवचन दिया था, इसलिये वे मगध क्षेत्र के निवासी होने चाहिये, ऐसी जो मान्यता लछवाड़ के पक्ष में दी जाती है वह भी समुचित नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि महावीर की भाषा मागधी न होकर अर्धमागधी है। यदि महावीर का जन्म और विचरण केवल मगध क्षेत्र में ही हुआ होता, तो वे मागधी का ही उपयोग करते, अर्धमागधी का नहीं। अर्धमागधी स्वयं ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी भाषा में मागधी के अतिरिक्त अन्य समीपवर्ती क्षेत्रों की भाषाओं एवं बोलियों के शब्द भी मिले हुए थे। मैं जमुई अनुमण्डल को महावीर का साधना स्थल एवं केवलज्ञानस्थल मानने में तो सहमत हूँ, किन्तु जन्मस्थल मानने में सहमत नहीं हूँ, अतः महावीर का जन्मस्थल वैशाली के समीप वर्त्तमान वासुकुण्ड ही अधिक प्रामाणिक लगता है। जैन समाज को उस स्थान के सम्यक् विकास हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

संदर्भ:

1. समणे भगवं महावीरे नाए, नायपुत्ते,नायकुलचंदे, विदेहे, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे विदेह सूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु-कल्पसूत्र 110 (प्राकृत भारती संस्मरण पृ.160)
2. वही, पृ.160
3. णायसंडवणे उज्जाणे जेणेव असोकवरपायवे-कल्पसूत्र 113 (प्राकृत भारती संस्करण, पृ.170) एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी अणुत्तरदसी अणुत्तरणाणदंसणधरे।
   अरहा-णायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए।। - सूत्रकृतांग-1/2/3/22.
4. देखें-कल्पसूत्र 58, 67, 69 (प्रा.भा.सं., पृ. 96, 114 आदि.)
5. देखें-बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, भरत सिंह, पृ.313.
6. कल्पसूत्र 119 (प्राकृत भारती संस्करण, पृ.184).
7. ज्ञातव्य है कि आचारांगसूत्र में भी दीक्षा ग्रहण करते समय महावीर यह निर्णय लेते हैं कि मैं सबके प्रति क्षमाभाव रखूंगा। (सम्मं सहिस्सामि इवमिस्सामि).
8. आचारांग-1/174;5/55, 6/30.
9. वही, 1/37, 68.

***

3 भगवान् महावीर का केवलज्ञान स्थल : एक पुनर्विचार

वर्त्तमान में महावीर के केवलज्ञान स्थल के रूप में सम्मेदशिखर और गिरिडीह के बीच तथा पालगंज के समीप 'बाराकर' को महावीर का केवलज्ञान स्थल माना जाता है। यद्यपि पालगंज पुरातात्त्विक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण स्थल है। वहां पालकालीन (लगभग 10वीं शताब्दी का) मन्दिर भी है। उसी को लक्ष्य में रखकर सम्भवतः वर्त्तमान सम्मेतशिखर को 20 तीर्थंकरों के निर्वाणस्थल के रूप में तथा बाराकर को महावीर के केवलज्ञान स्थल के रूप में लगभग 16वीं शताब्दी में मान्यता दी गई। मेरी दृष्टि में वर्त्तमान में जिसे श्वेताम्बर परम्परा महावीर का जन्मस्थल मान रही है, वह वस्तुतः महावीर का केवलज्ञान स्थल ही है, जैसा मैंने अपने आलेख 'भगवान् महावीर का जन्म स्थलः एक पुनर्विचार ' में इंगित किया है कि उस स्थल पर ई. सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी कोई स्मारक रखा था और यह बहुत कुछ सम्भव है कि वह स्मारक महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति स्थल की स्मृति में ही बनाया गया हो। वर्त्तमान में 'बाराकर' को, जो महावीर का केवलज्ञान स्थल माना जाता है, वहां 16-17वीं शताब्दी से प्राचीन कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते, जबकि जमुई क्षेत्र के अन्तर्गत लछवाड़ के समीपवर्ती क्षेत्र में कम से कम ई.सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के पुरातात्त्विक प्रमाण, विशेष रूप से ईंट आदि, स्वयं लेखक ने देखे हैं।

आगमों में, विशेष रूप से आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं कल्पसूत्र में महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति का जो सन्दर्भ उपस्थित है, उसमें कहा गया है कि 'जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुवालिका के उत्तरी किनारे पर शामकगाथापति के काष्टकरण (काष्ठसंग्रह क्षेत्र)

में 'वेयावत्त' नामक चैत्य के उत्तर–पूर्व दिशा भाग में न अति दूर और न अति निकट शालवृक्ष के नीचे उकडू होकर गोदुहासन से सूर्य की आतापना लेते हुए उर्ध्वजानु अधोसिर धर्म–ध्यान में निरत ध्यान कोष्ठक को प्राप्त शुक्ल ध्यान के अन्तर्गत वर्त्तमान वर्द्धमान को निवृत्ति दिलाने वाला प्रतिपूर्ण अव्याहत, निरावरण, अनन्त, अनुत्तर, श्रेष्ठ ज्ञान–दर्शन उत्पन्न हुआ।' सामान्यतया विद्वानों ने यहां यह मान लिया है कि भगवान् महावीर को जंभियग्राम के निकट ऋजुवालिका नदी के उत्तरी किनारे पर शामकगाथापति के खेत में शालवृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने इसमें बहिया और कट्ठकरणंसी जैसे शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया है। वर्त्तमान में श्वेताम्बर परम्परा जिसे महावीर का जन्मस्थल मान रही है, वह कच्चे मार्ग से वर्त्तमान जमुई से 7–8 कि.मी. से अधिक दूर नहीं है। इस मार्ग में ऊलाही नदी को दो–तीन बार पार करते हुए जाना पड़ता है, किन्तु यह मार्ग वस्तुतः मोटर, गाड़ी आदि के लिए नहीं है। वैसे यदि नदी के किनारे–किनारे खेतों में से यात्रा की जाए, तो मेरी दृष्टि में यह मार्ग 7 कि.मी. से अधिक नहीं है। लेखक ने स्वयं कच्चे मार्ग से कार से इस क्षेत्र की यात्रा की है। यदि हम जंभियग्राम को आधुनिक जमुई ही मानें, तो भी यह स्थान वहां से एक पहाड़ को पार करने पर 7–8 कि.मी. से अधिक नहीं रह जाता है। मेरी दृष्टि में 'बहिया' का अर्थ अति निकट न समझकर जंभियग्राम का बाह्य क्षेत्र समझना चाहिए। आज भी सामान्य रूप से किसी भी नगर के 8–10 कि.मी. के क्षेत्र को उस नगर का बाह्य भाग माना जाता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामान्यतया भगवान् महावीर अपने साधनाकाल में किसी भी बड़े नगर के अति निकट नहीं रहते थे। 'कट्ठकरण' शब्द का जो कृषि भूमि या खेत अर्थ लगाया जाता है, वह मेरी दृष्टि में उचित नहीं है। 'कट्ठकरण' का अर्थ जंगल या काष्ठ संग्रह करने का क्षेत्र–ऐसा होता है, कृषि क्षेत्र नहीं होता। पुनः, शामक को सामान्य गृहस्थ या कृषक न मानकर गाथापति कहा गया है। गाथापति सामान्यतया नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति को ही कहा जाता है। वस्तुतः, भगवान् महावीर केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व शामक गाथापति के वन क्षेत्र में साधना हेतु स्थित थे, अतः महावीर का केवलज्ञान स्थल वस्तुतः ऋजुवालिका नदी के उत्तरी किनारे का शामक गाथापति का वनक्षेत्र ही था, न कि कोई खेत। पुनः, वहां शालवृक्षों के होने का तात्पर्य भी यही है कि वह शालवृक्षों का वन रहा होगा। अतः, महावीर के केवलज्ञान स्थल को जंभिय (वर्त्तमान जमुई) के ऋजुवालिका नदी के (उलाई) उत्तरी किनारे का वनक्षेत्र समझना चाहिए। लेखक ने लगभग 15 वर्ष पूर्व जब

इस क्षेत्र की यात्रा की थी, तब भी यह क्षेत्र तीन ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ वनक्षेत्र ही था। उसके अति निकट लेखक को किसी ग्राम आदि की उपस्थिति नहीं मिली। यदि हम 'बहिया' का अर्थ नगर का बाह्य भाग मानें तथा उस स्थल को ऋजुवालिका नदी के उत्तर किनारे पर स्थित वनक्षेत्र के रूप में स्वीकार करें, तो भगवान् महावीर का केवलज्ञान स्थल वही सिद्ध होता है, जिसे आज श्वेताम्बर समाज महावीर का जन्मस्थल मान रहा है।

आगम में केवलज्ञान स्थल को जंभियग्राम नगर का बहिर्भाग (बाहिया) कहा गया है। सामान्यतया, 'बहिया' या बहिर्भाग का अर्थ निकटस्थ स्थल माना जाता है, किन्तु आगमों के अनुसार उस काल में 20–25 किलोमीटर दूर स्थित स्थलों को भी उस नगर का बहिर्भाग ही माना जाता था, उदाहरणार्थ नालंदा को भी राजगृह का बहिर्भाग (तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए एत्थणं नालन्दा नामं–ज्ञातासूत्र अध्याय 7 का प्रारम्भिक सूत्र) कहा गया है, जबकि नालन्दा और राजगृह के बीच की दूरी लगभग 20 किलोमीटर है। अतः, वर्त्तमान लछवाड़ को जमुई (जम्भिय) का बाह्य विभाग माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है।

वर्त्तमान में महावीर के जन्मस्थान के रूप में मान्य 'लछवाड़' महावीर का कैवल्य प्राप्ति का स्थान है। इसकी पुष्टि अन्य तथ्यों से भी होती है। प्रथमतः, इसके समीप बहने वाली 'ऊलाई' नामक नदी 'उजुवालिया' का ही अपभ्रंश रूप है, क्योंकि प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से उजुवालिया का 'उलाई' रूप सम्भव है।

सर्वप्रथम, लोप के नियमानुसार 'ज' का लोप होने पर और 'व' का 'उ' होने पर तथा तीनों ह्रस्व 'उ' का 'ऊ' होने पर ऊलिया रूप होगा, इसमें भी ऊ+ल+इ+य+आ (ऊलइया) में 'इ'+'य' का दीर्घ 'ई' होकर 'आ' का स्थान परिवर्तन होकर 'ल' के साथ संयोग होने से 'ऊलाई' रूप बनता है। पुनः, संस्कृत के कुछ ग्रन्थों में उजुवालिया (ऋजुवालिकाः) के स्थान पर ऋजुकूला रूप भी मिलता है। प्राकृत के नियमों के अनुसार ऋ का 'उ', मध्यवर्ती ज का लोप होने पर 'जु' का 'उ' और मध्यवर्ती 'क' का लोप होने पर 'कू' का 'ऊ'–इस प्रकार उ+उ+ऊ+ला में दोनों ह्रस्व 'उ' का दीर्घ 'ऊ' में समावेश होकर ऊला रूप बनता है, जिसमें मुख सुविधा हेतु 'ई' का आगम होकर ऊलाई रूप बनता है।

ज्ञातव्य है कि यही नदी अन्य जलधाराओं से मिलती हुई आगे चलकर जमुई के आसपास क्यूल के नाम से जानी जाती है, यह भी कूल का अपभ्रंश रूप लगता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि –ऊलाई जो जमुई नगर से आगे चलकर क्यूल के नाम से जानी जाती है ऋजुवालिका अथवा ऋजुकूला का ही अपभ्रंश रूप है। अतः, नदी के नाम की दृष्टि से भी महावीर का केवल ज्ञान स्थल वर्त्तमान लछवाड़ ही है। लछुवाड़ नाम की लिच्छवी वाटक अर्थात् लिच्छवी का मार्ग या लक्ष्यवाट अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग –ऐसा सिद्ध करता है। चूंकि इस प्रकार लिच्छवी महावीर का ज्ञानप्राप्ति या लक्ष्यप्राप्ति का स्थल होने से यह स्थल लछुवाड़ कहलाया होगा, इस सम्भावना को पूर्णतः निरस्त नहीं किया जा सकता है।

इस स्थान पर तीर्थस्थापन नहीं होने का कारण भी स्पष्ट है। चूंकि आज भी यह स्थान निर्जन है, उस काल में तो इससे भी अधिक निर्जन रहा होगा, फिर संध्याकाल होते–होते वहाँ कोई उपदेश सुनने को उपलब्ध हो, यह भी सम्भव नहीं था, साथ ही इस क्षेत्र में महावीर के परिचितजनों का भी अभाव था, अतः भगवान् महावीर ने यह निर्णय किया होगा कि जहाँ उनके ज्ञातीजन या परिचितजन रहते हों, ऐसी मध्यमा अपापापुरी (पावापुरी) में जाकर प्रथम उपदेश देना उचित होगा। ज्ञातव्य है कि आगमिक व्याख्याओं में लछुवाड़ से मध्यदेश में स्थित मल्लों की राजधानी पावा की दूरी 12 योजन बताई गई है, जो लगभग सही प्रतीत होती है। वर्त्तमान में भी लछुवाड़ से उसमानपुर–वीरभारी के निकटवर्ती स्थल को पावा मानने पर ऋजु या सीधे मार्ग से वह दूरी लगभग 190 किलोमीटर होती है। 15 किलोमीटर का एक योजन मानने पर यह दूरी 180 किलोमीटर होती है। ज्ञातव्य है कि जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में एक योजन 9.09 मील के बराबर बताया गया है। इस आधार पर 1 योजन लगभग 15 किलोमीटर का होता है। मानचित्र में हमने इसे स्केल से मापकर भी देखा है, जो लगभग सही है। इस प्रकार, हमारी दृष्टि में महावीर का केवलज्ञान प्राप्ति का स्थल जमुई के निकटवर्ती क्षेत्र लछुवाड़ ही है, वर्त्तमान बाराकर और जामू नहीं हैं।

***

4 भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक पुनर्विचार

यह जैन धर्मानुयायियों का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि जहाँ भगवान् बुद्ध के बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो जाने के बाद भी भगवान् बुद्ध के जन्मस्थल, ज्ञान-प्राप्ति-स्थल, प्रथम उपदेश-स्थल और परिनिर्वाण-स्थल की सम्यक् पहचान हो चुकी है और इस सम्बन्ध में कोई मतवैभिन्न्य नहीं है, वहीं जैन धर्म के भारत में जीवन्त रहते हुए भी आज भगवान् महावीर का जन्मस्थल, केवलज्ञानस्थल, प्रथम उपदेशस्थल और परिनिर्वाणस्थल -सभी विवादों के घेरे में हैं, उनकी सम्यक् पहचान अभी तक नहीं हो सकी है, जबकि उन स्थलों के सम्बन्ध में आगम और आगमिक व्याख्याओं तथा पुराण साहित्य में स्पष्ट निर्देश हैं। पूर्व के दो आलेखों में हमने उनके जन्मस्थल और केवलज्ञानस्थल की पहचान का एक प्रयत्न किया था। इस आलेख में हम उनके तीर्थस्थापनस्थल और परिनिर्वाणस्थल की पहचान का प्रयत्न करेंगे। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा भगवान् महावीर के तीर्थस्थापनास्थल और परिनिर्वाणस्थल -दोनों को 'मज्झिमापावा' अर्थात् मध्यम+अपापा को मानती है, वहीं दिगम्बर परम्परा तीर्थस्थापन स्थल तो राजगृह के वैभारगिरि को मानती है, किन्तु परिनिर्वाण स्थल पावा को ही मानती है। इस प्रकार, निर्वाणस्थल के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतैक्य है- दोनों ही पावापुरी को महावीर का परिनिर्वाण स्थल मानती हैं, किन्तु मूल प्रश्न यह है कि पावा कहाँ स्थित है?

वर्त्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों ही परम्पराएँ राजगृह और नालंदा के समीपवर्ती पावापुरी को महावीर का निर्वाणस्थल मान रही हैं और दोनों के द्वारा उस स्थल

पर मन्दिर आदि निर्मित हैं, किन्तु विद्वत्वर्ग इस स्थल को महावीर का निर्वाण स्थल मानने में सहमत नहीं है। उसकी आपत्तियाँ निम्न हैं–

1. भगवान् महावीर के निर्वाण के समय नव मल्ल, नव लिच्छवी आदि 18 गणराज्यों के राजा तथा काशी और कौशल देश के राजा उपस्थित थे (कल्पसूत्र 127)। राजगृही के समीपवर्ती पावा में उनकी उपस्थिति सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि राजगृह राजतंत्र था और मल्ल, लिच्छवी, वज्जी, वैशाली आदि के गणतंत्रात्मक राज्यों से उसकी शत्रुता थी, जबकि गणतंत्र के राजाओं में पारस्परिक सौमनस्य था। दूसरे, काशी और कौशल के राजाओं का वहां उपस्थित रहना भी सम्भव नहीं था, क्योंकि राजगृह के समीपवर्ती पावा से उनकी दूरी लगभग 300 किलोमीटर थी, जबकि फजिलका या उसमानपुर के निकटवर्ती पावा समीप थी और उनके राज्यों की सीमा से लगी हुई थी।

2. यदि महावीर का निर्वाण राजगृह के समीपवर्ती पावा के पास होता, तो उस समय वहां कुणिक अजातशत्रु की उपस्थिति का उल्लेख निश्चित हुआ होता, क्योंकि वह महावीर का भक्त था, किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी उसकी उपस्थिति के संकेत नहीं हैं। इसके विपरीत मल्ल, लिच्छवी आदि गणतंत्रों के राजाओं की उपस्थिति के संकेत हैं।

3. महावीर के काल में राजगृह के समीप किसी पावा के होने के संकेत प्राचीन जैन आगमों और बौद्ध त्रिपिटक में नहीं मिलते, जबकि बौद्ध त्रिपिटक में कुशीनगर के समीपवर्ती मल्लों की पावा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। त्रिपिटक में मल्लों के कुशीनगर और पावा – ऐसे दो गणराज्यों का उल्लेख है, ये मल्लगणराजा महावीर के निर्वाण के समय उपस्थित भी थे।

4. पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर राजगृह की समीपवर्ती वर्त्तमान में मान्य पावा ही महावीर की निर्वाणस्थली है, यह सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि वहाँ जो प्राचीनतम पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध है, वह संवत् 1260 में अभयदेवसूरि द्वारा स्थापित चरण है। इस आधार पर भी वर्त्तमान पावा की ऐतिहासिकता तेरहवीं शती से पूर्व नहीं जाती है।

5. राजगृह के अति समीप वर्त्तमान में मान्य पावा में कल्पसूत्र में उल्लेखित हस्तिपाल जैसे किसी स्वतंत्र राजा का राज्य होना सम्भव नहीं है। दो गणराज्यों की राजधानी और राज्य 20–25 मील की दूरी पर होना सम्भव है, जैसे कुशीनगर के मल्लों की और

पावा के मल्लों की राजधानियाँ मात्र 20 किलोमीटर की दूरी पर स्थित थीं, किन्तु मगध जैसे साम्राज्य की राजधानी के अति समीप मात्र 20–25 किलोमीटर की दूरी पर हस्तिपाल जैसे स्वतंत्र राजा की राजधानी पावा होना सम्भव नहीं था।

6. कुछ व्यक्तियों का तर्क है कि वर्त्तमान 'पावा' को ही महावीर निर्वाणस्थल और लछवाड़ या नालंदा के समीपवर्ती कुण्डपुर को महावीर का जन्मस्थान मानना उचित है, क्योंकि ये दोनों वर्त्तमान पावा के इतने निकट हैं कि भगवान् के पार्थिव शरीर की दाह क्रिया के समय भगवान् के बड़े भाई नन्दिवर्द्धन उसमें सम्मिलित हो सके, किन्तु यह तर्क समुचित नहीं है, क्योंकि प्रथम तो नन्दिवर्द्धन महावीर की दाह क्रिया में सम्मिलित हुए थे, ऐसा काई प्राचीन उल्लेख नहीं है। यदि यह मानें कि 18 गणराजाओं में नन्दिवर्द्धन भी थे, तो वे तो पौषध के निमित्त पूर्व से ही वहाँ उपस्थित थे। पुनः, वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रिय कुण्डग्राम से भी उसमानपुर वीरभारी या फाजिल नगर के निकट सठियॉव के समीप स्थित पावा की दूरी भी लगभग 100 मील से अधिक नहीं है, घोड़े पर एक दिन में इतनी दूरी पार करना कठिन नहीं है, क्योंकि अच्छा घोड़ा एक घण्टे में 10 मील की यात्रा आसानी से कर लेता है।

पुनः, एक विचारणीय प्रश्न यह है कि आगमों में महावीर के परिनिर्वाण स्थल को 'मज्झिमा पावा' कहा गया है। 'मज्झिमा' शब्द की व्याख्या विद्वानों ने अनेक दृष्टि से की है। कुछ विद्वानों के अनुसार मज्झिमा का अर्थ है–मध्यवर्ती पावा अर्थात् उनके अनुसार उस काल में तीन पावा रही होगी। उन तीन पावाओं में मध्यवर्ती पावा को ही मज्झिमा पावा कहा गया है। वर्त्तमान चर्चाओं के आधार पर यदि हम राजगृह के समीपवर्ती पावा और पड़रौना समीप स्थित पावा की कल्पना को सही मानें, तो इनके मध्यवर्ती फाजिल नगर या वीरभारी की पावा को मध्यवर्ती पावा माना जा सकता है।

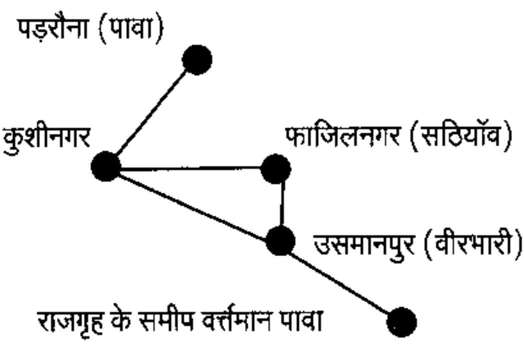

किन्तु, उस काल में ऐसी तीन पावा थीं, इसका कोई भी प्रमाण जैनागमों और त्रिपिटक में नहीं मिलता। यद्यपि इस कल्पना की एक फलश्रुति अवश्य है, वह यह कि राजगृह के समीपवर्ती पावा चाहे उस युग में रही भी हो, किन्तु वह मध्यवर्ती पावा (मज्झिमा पावा) नहीं हो सकती है, अतः उसे महावीर की निर्वाण भूमि नहीं माना जा सकता है। वह मध्यवर्ती पावा न होकर दक्षिण या अन्त्य पावा ही सिद्ध होगी, क्योंकि उसके दक्षिण या पूर्व दिशा में किसी अन्य पावा के कोई भी संकेत नहीं मिले हैं। इन तीन पावा नगरों की कल्पना को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा यह भी है कि पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों से यह बात सिद्ध नहीं होती कि महावीर या बुद्ध के काल में पावा नामक नगर तीन थे। जो भी साहित्यिक उल्लेख उपलब्ध हैं, वे मल्लों की मध्यदेशीय पावा के ही हैं, अन्य किसी पावा का कोई उल्लेख नहीं है।

कुछ विद्वानों ने तीन 'पावा' की बात तो स्वीकार नहीं की, किन्तु मज्झिमा पावा का अर्थ यह लगाया है कि पावा नगर के मध्य में स्थित हस्तिपालराजा की रज्जुक सभा में महावीर का निर्वाण हुआ था, इसी कारण उसे मज्झिमा पावा कहा गया है। प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से मज्झिमा पावा का विशेषण है, उसका अर्थ है मध्यमा अर्थात् बीच की पावा या मध्यदेशीय पावा– ऐसा होगा, किन्तु पावा के मध्य में–ऐसा नहीं, क्योंकि लेखक को यदि यह बात कहनी होती, तो वह 'पावाए मज्झे' – इन शब्दों का प्रयोग करता न कि 'मज्झिमा पावा' का। दूसरे, महावीर जब भी चातुर्मास करते थे, तो गाँव या नगर के मध्य में न करके गाँव या नगर के बाहर ही किसी उद्यान, चैत्य आदि पर ही करते थे, अतः उन्होंने यह चातुर्मास पावा नगर के मध्य में किया होगा, यह बात सिद्ध नहीं होती। रज्जुक सभा का अर्थ भी यह बताता है कि वह स्थान हस्तिपाल राजा के नाप–तौल विभाग का सभास्थल रहा होगा, किन्तु यह सभाभवन के नगर के मध्य में हो, यह सम्भावना कम ही है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में नाप के लिए 'रज्जु' शब्द का प्रयोग मिलता है। सामान्य रूप से रज्जुक वे राजकीय कर्मचारी थे, जो रस्सी लेकर भूमि या खेतों का माप करते थे। ये कर्मचारी वर्त्तमान काल के पटवारियों के समान ही थे। राज्य में प्रत्येक गांव का एक रज्जुक होता होगा और एक छोटे से राज्य में भी हजारों गाँव होते थे, अतः राज्य कर्मचारियों में रज्जुकों की संख्या सर्वाधिक होती थी। सम्भव है, उनकी सभा हेतु कोई विशाल भवन रहा हो।

महावीर ने यह स्थल चातुर्मास के लिए इस कारण से चुना होगा कि इसमें विशाल

सभागार रहा होगा। ऐसा सभागार महावीर के विशाल संघ के चातुर्मास का उपयुक्त स्थल हो सकता था, किन्तु यह नगर के मध्य हो, यह सम्भावना कम ही है। इस प्रकार, मज्झिमा का अर्थ न तो मध्यवर्ती पावा होगा और न पावा के मध्य में– ऐसा होगा।

अब हम 'मज्झिमा' शब्द के तीसरे अर्थ मध्यदेशीय पावी की ओर जाते हैं। तीसरे अर्थ के अनुसार इसका तात्पर्य यह होगा कि वह पावा नगर मध्यदेश में स्थित था। ज्ञातव्य है कि पालि त्रिपिटक और बुद्धकालीन भूगोल में मध्यदेश की सीमाएँ इस प्रकार थीं– मध्यदेश के पूर्व में विदेह, पश्चिम में कौशल, उत्तर में शाक्य/मौरिय (नेपाल का तराई क्षेत्र) तथा दक्षिण में काशी देश स्थित थे। इसका अर्थ है कि मज्झिमापावा मध्यदेश में स्थित थी, जबकि वर्त्तमान में मान्य राजगृह की समीपवर्ती पावा मगधदेश में स्थित है। अतः, मज्झिमा विशेषण से यह बात सिद्ध होती है कि महावीर के निर्वाणस्थल के रूप में मान्य पावा उस काल के मध्यदेश अर्थात् मल्लों के गणतंत्र में स्थित थी। इस आधार पर कुशीनगर से लगभग 20 किलोमीटर दक्षिण पूर्व में स्थित फाजिलनगर सठियाँव या उसमानपुर वीरभारी के समीपवर्ती क्षेत्र के पावा होने की सम्भावना अधिक समीचीन लगती है, क्योंकि उसकी पुष्टि बौद्ध साहित्यिक साक्ष्यों से होती है।

मध्यदेश में स्थित इस 'पावा' की पहचान करने में भी कठिनाई यह है कि इस सम्बन्ध में विद्वानों में अभी मतैक्य नहीं हो पाया है। खेतानजी आदि कुछ विद्वान वर्त्तमान पड़रौना के सिद्धवा को पावा मानते हैं, तो कारलाइल प्रभृति कुछ विद्वानों ने फाजिलनगर 'सठियाँव' को 'पावा' माना है। श्री ओमप्रकाशलाल श्रीवास्तव ने 'श्रमण' जनवरी–जून 2000 में प्रकाशित अपने लेख में एक नया मत प्रस्तुत करते हुए, उसमानपुर के निकटवर्ती वीरभारी नामक टीले को पावा बताया है, अतः चाहे राजगृही के समीपवर्ती पावा को महावीर निर्वाण स्थल नहीं भी माना जाये और मध्यदेश स्थित मल्लों की 'पावा' को ही महावीर की निर्वाण भूमि माना जाये, तो भी उस स्थान का सम्यक् निर्णय करना अभी शेष है।

मध्यदेश स्थित मल्लों की राजधानी 'पावा' की पहचान का सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक साक्ष्य यह है कि वह भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण स्थल कुशीनगर से 3 गव्यूति की दूरी पर स्थित था, किन्तु कुशीनगर को केन्द्र मानकर यदि तीन गव्यूति व्यास से वृत्त खींचा जाय, तो उसमें चारों दिशाओं के अनेक स्थल आयेंगे, अतः इस आधार पर भी सम्यक् निर्णय पर कैसे पहुँचें? इस हेतु हमें बुद्ध के अन्तिम यात्रामार्ग के आधार पर निर्णय

लेना होगा। अपने जीवन की संध्या में बुद्ध किस मार्ग से कुशीनगर से आये थे? सम्भावनाएं तीन हो सकती हैं–राजगृह वैशाली मार्ग से, श्रावस्ती के मार्ग से या शाक्य प्रदेश अर्थात् कपिलवस्तु (नेपाल की तराई) से। यदि वे श्रावस्ती से आ रहे थे, तो 'पावा' की खोज कुशीनगर के पश्चिम में करनी होगी। यदि वे शाक्य राज्य से आ रहे थे तो पावा की खोज कुशीनगर के उत्तर में करना होगी, किन्तु यदि वे राजगृह या वैशाली से आ रहे थे, तो हमें 'पावा' की खोज कुशीनगर के दक्षिण–पूर्व में करनी होगी। पाली साहित्य से जो सूचनाएं हमें प्राप्त हैं, उस आधार पर उनकी यात्रा राजगृह–वैशाली की ओर से थी, अतः 'पावा' की खोज कुशीनगर के दक्षिण–पूर्व में करना होगी। इस आधार पर पड़रौना के सिद्धवा को 'पावा' मानने की संभावना निरस्त हो जाती है, क्योंकि पड़रौना कुशीनगर (वर्त्तमान कसाया) के ठीक उत्तर में है। यद्यपि भगवान् महावीर निर्वाण भूमि 'पावा' नामक भगवतीप्रसाद खेतान की पुस्तक की भूमिका में उनके मत का समर्थन करते हुए मेरा झुकाव भी पड़रौना को पावा मानने के पक्ष में था, किन्तु निम्न तीन कारणों से अब मुझे अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ रहा है–

1. पड़रौना के 'पावा' होने के पक्ष में आज तक कोई भी ठोस साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। आदरणीय भगवतीप्रसाद खेतान द्वारा दिये गये तर्कों और साक्ष्यों से यह तो सिद्ध होता है कि राजगृह के समीपवर्ती पावा वास्तविक पावा नहीं है, किन्तु पड़रौना का सिद्धवा स्थान ही पावा है, यह पूर्णतया सिद्ध नहीं होता।
2. दूसरे, पडरौना राजगृह–वैशाली–कुशीनारा के सीधे या सरल मार्ग पर स्थित नहीं है, राजगृह या वैशाली से पडरौना होकर कुशीनारा आना एक चक्करदार रास्ता है। भगवान् बुद्ध की इस यात्रा का लक्ष्य कुशीनारा था, अतः उत्तर में जाकर पुनः दक्षिण में आने वाले मार्ग का चयन उचित नहीं था।
3. जैन व्याख्या साहित्य के अनुसार भगवान् महावीर ने अपने कैवल्यस्थल से बारह योजन चलकर पावा में अपने धर्म तीर्थ की स्थापना की थी। मेरी दृष्टि में वर्त्तमान जमुई के समीपवर्ती लछवाड़ महावीर का जन्मस्थल न होकर कैवल्यज्ञान–स्थल है। वहाँ से सीधे मार्ग से पावा की दूरी लगभग 190 किलोमीटर से अधिक नहीं होनी चाहिए। पडरौना को पावा मानने पर यह दूरी लगभग 250 कि.मी. से अधिक हो जाती है, अतः पडरौना को पावा मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

कुशीनगर से दक्षिण पूर्व में पावा को मानने के सम्बन्ध में भी अब हमारे सामने दो विकल्प हैं? प्रथम, फाजिलनगर सठियॉव और दूसरा उसमानपुर वीरभारी। यद्यपि कार्लाइल आदि विद्वानों ने फाजिलनगर सठियांव को पावा मानने के पक्ष में अपना मत दिया था। उसके परिणामस्वरूप गोरखपुर, देवरिया आदि के कुछ दिगम्बर जैनों ने और कुछ प्रबुद्ध वर्ग ने उसे महावीर की निर्वाण भूमि मानकर मन्दिर, धर्मशाला आदि भी बनवाये हैं, किन्तु श्री ओमप्रकाशलाल का कहना है कि वहाँ से जो मृणमुद्रा मिली है, उससे वह स्थल श्रेष्ठिग्राम सिद्ध होता है, पावा नहीं। पुनः, वह स्थल भी कुशीनारा से 18–20 मील पूर्व में ही है, दक्षिण पूर्व में नहीं है। इस दृष्टि से उसमानपुर वीरभारी को पावा मानने का पक्ष अधिक सबल प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य वहाँ से 'प(।)वानारा' के उल्लेख युक्त मृणमुद्रा का प्राप्त होना है। जिस प्रकार प्राप्त मृणमुद्राओं के आधार पर उन–उन ग्राम या नगरों की पहचान पूर्व में इतिहासकारों के द्वारा की गई, उसी प्रकार इस मुद्रा के आधार पर इसे 'पावा' स्वीकार किया जा सकता है। पुनः, महावीर के कैवल्यस्थल से इस स्थल की दूरी भी सरल सीधे मार्ग से 12–13 योजन के लगभग सिद्ध होती है। ज्ञातव्य है कि योजन की लम्बाई को लेकर भी विभिन्न मत हैं। यह दूरी एक योजन मात्र 9.09 या लगभग 15 किलोमीटर मानकर निश्चित की गई है।

मैंने इस पावा की अवस्थिति को उसमानपुर के समीप और कैवल्यस्थल लछवाड़ को जमुई के समीप मानकर नक्शे के स्कैल के आधार पर दूरी निकाली थी, जो लगभग 190 किलोमीटर आती है, अतः उसमानपुर वीरभारी को पावा मानने पर आगमिक व्याख्याओं की 12 योजन की दूरी का भी कुछ समाधान मिल जाता है।

फिर भी, जब तक फाजिलनगर के डीह और वीरभारी के टीलों की खुदाई न हो और सबल पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध न हों, इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देना समुचित नहीं होगा, तथापि पावा की पहचान के सम्बन्ध में जो विभिन्न विकल्प हैं, उनमें मुझे उसमानपुर वीरभारी का पक्ष सबसे अधिक सबल प्रतीत होता है और वर्त्तमान में राजगृही के समीपवर्ती पावापुरी को महावीर की निर्वाणभूमि पावा मानना सन्देहास्पद लगता है।

****

5 भगवान् महावीर की निर्वाण तिथि : एक पुनर्विचार

सामान्यतया, जैन लेखकों ने अपनी काल गणना को शक संवत् से समीकृत करके यह माना है कि महावीर के निर्वाण के 605 वर्ष और पाँच माह पश्चात् शक राजा हुआ। इसी मान्यता के आधार पर वर्त्तमान में भी महावीर का निर्वाण ई.पू.527 माना जाता है।[1] आधुनिक जैन लेखकों में दिगम्बर परम्परा के पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार[2] एवं श्वेताम्बर परम्परा के मुनि श्री कल्याणविजयजी[3] आदि ने भी वीरनिर्वाण ई.पू.527 वर्ष माना है। लगभग 7 वीं शती से कुछ अपवादों के साथ इस तिथि को मान्यता प्राप्त है। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम 'तित्थोगाली'[4] नामक प्रकीर्णक में और दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम 'तिलोयपण्णत्ति'[5] में स्पष्टरूप से यह उल्लेख मिलता है कि महावीर के निर्वाण के 505 वर्ष एवं 5 माह के पश्चात् शक नृप हुआ। ये दोनों ग्रन्थ ईसा की 6-7 वीं शती में निर्मित हुए हैं। इसके पूर्व किसी भी ग्रन्थ में महावीर के निर्वाणकाल को शक सम्वत् से समीकृत करके उनके अन्तर को स्पष्ट किया गया हो--यह मेरी जानकारी में नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि लगभग 6-7 वीं शती से ही महावीर निर्वाण शक पूर्व 605 में हुआ था-यह एक सामान्य अवधारणा रही है। इसके पूर्व कल्पसूत्र की स्थविरावली और नन्दीसूत्र की वाचक वंशावली में महावीर की पट्टपरम्परा का उल्लेख तो है, किन्तु इनमें आचार्यों के कालक्रम की कोई चर्चा नहीं है, अतः इनके आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि को निश्चित करना एक कठिन समस्या है। कल्पसूत्र में यह तो उल्लेख मिलता है कि अब वीर निर्वाण के 980 वर्ष वाचनान्तर से 993 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।[6] इससे इतना ही फलित

होता है कि वीर निर्वाण के 980 या 993 वर्ष पश्चात् देवर्द्धिक्षपणश्रमण ने प्रस्तुत ग्रन्थ की यह अन्तिम वाचना प्रस्तुत की। इसी प्रकार स्थानांग[7], भगवती सूत्र[8] और आवश्यकनिर्युक्ति[9] में निह्नवों के उल्लेखों के साथ वे महावीर के जीवनकाल और निर्वाण से कितने समय पश्चात् हुए हैं–यह निर्देश प्राप्त होता है। ये ही कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिनकी बाह्य सुनिश्चित समय वाले साक्ष्यों से तुलना करके ही हम महावीर की निर्वाण तिथि पर विचार कर सकते हैं।

महावीर की निर्वाण तिथि के प्रश्न को लेकर प्रारम्भ से मत–वैभिन्य रहे हैं। दिगम्बर परम्परा के द्वारा मान्य तिलोयपण्णत्ति में यद्यपि यह स्पष्ट उल्लेख है कि वीरनिर्वाण के 605 वर्ष एवं 5 मास पश्चात् शक नृप हुआ, किन्तु उसमें इस संबंधी निम्न चार मतान्तरों का भी उल्लेख मिलता है।[10]

1. वीर जिनेन्द्र के मुक्ति प्राप्त होने के 461 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
2. वीर भगवान् के मुक्ति प्राप्त होने के 9785 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
3. वीर भगवान के मुक्ति प्राप्त होने के 14793 वर्ष पश्चात् शक नृप हुआ।
4. वीर जिन के मुक्ति प्राप्त करने के 605 वर्ष एवं 5 माह पश्चात् शक नृप हुआ।

इसके अतिरिक्त, षट्खण्डागम की 'धवला' टीका में भी महावीर के निर्वाण के कितने वर्षों के पश्चात् शक (शालिवाहन शक) नृप हुआ, इस सम्बन्ध में तीन मतों का उल्लेख हुआ है।[11]

1. वीर निर्वाण के 605 वर्ष और पाँच माह पश्चात्।
2. वीर निर्वाण के 14793 वर्ष पश्चात्।
3. वीर निर्वाण के 7995 वर्ष और पाँच माह पश्चात्।

श्वेताम्बर परम्परा में आगमों की देवर्द्धि की अन्तिमवाचना भगवान महावीर के निर्वाण के कितने समय पश्चात् हुई, इस सम्बन्ध में स्पष्टतया दो मतों का उल्लेख मिलता है–प्रथम मत उसे वीर निर्वाण के 980 वर्ष पश्चात् मानता है, जबकि दूसरा मत उसे 993 वर्ष पश्चात् मानता है।[12]

श्वेताम्बर परम्परा में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहणकाल को लेकर भी दो मान्यताएँ पायी जाती हैं। प्रथम परम्परागत मान्यता के अनुसार वे वीर निर्वाण सम्वत् 215 में

राज्यासीन हुए।[13] जबकि दूसरी हेमचन्द्र की मान्यता अनुसार वे वीर निर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् राज्यासीन हुए।[14] हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत यह दूसरी मान्यता महावीर के ऊ.पू.527 में निर्वाण प्राप्त करने की अवधारणा में बाधक है।[15] इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में प्राचीनकाल में भी विवाद था।

चूँकि महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में प्राचीन आन्तरिक साक्ष्य सबल नहीं थे, अतः पाश्चात्य विद्वानों ने बाह्य साक्ष्यों के आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि को निश्चित करने का प्रयत्न किया, परिणामस्वरूप महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में अनेक नये मत भी प्रकाश में आये। महावीर की निर्वाण तिथि के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार हैं --

1. हरमन जकोबी,[16] ई.पू.477	इन्होंने हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के उस उल्लेख को प्रामाणिक माना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वीर निर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् राज्यासीन हुआ और इसी आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि निश्चित की।
2. जे.शारपेन्टियर,[17] ई.पू.467	इन्होंने भी हेमचन्द्र को आधार बनाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य के 155 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण माना।
3. पं.ए.शान्तिराज शास्त्री,[18] ई.पू.663	इन्होंने शक सम्वत् को विक्रम सम्वत् माना है और विक्रम सं. के 605 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण माना।
4. प्रो.काशीप्रसाद जायसवाल[19]	इन्होंने अपने लेख 'आइडेन्टीफिकेशन ऑफ कल्की' में मात्र दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण नहीं किया है।
5. एस.व्ही.वैंकटेश्वर[20] ई.पू.437	इनकी मान्यता अनन्द विक्रम संवत् पर आधारित है। यह विक्रम संवत् के 90 वर्ष बाद प्रचलित हुआ था।

6. पं.जुगलकिशोरजी मुख्तार,[21] ई.पू.528	इन्होंने अनेक तर्कों के आधार पर परम्परागत मान्यता को पुष्ट किया।
7. मुनि श्री कल्याणविजय,[22]	इन्होंने भी परम्परागत मान्यता की पुष्टि करते हुए उसकी असंगति के निराकरण का प्रयास किया है।
8. प्रो.पी.एच.एल.झगरमोंट,[23]	इनके तर्क का आधार जैन परम्परा में तिष्यगुप्त की संघभेद की घटना का जो महावीर के जीवनकाल में उनके कैवल्य के 16वें वर्ष में घटित हुई, बौद्ध संघ में तिष्यरक्षिता द्वारा बोधिवृक्ष को सुखाने तथा संघभेद की घटना से जो अशोक के राज्यकाल में हुई थी समीकृत कर लेना है।
9. वी.ए.स्मिथ,[24] ई.पू.527	इन्होंने सामान्यतया प्रचलित अवधारणा को मान्य कर लिया है।
10.प्रो.के.आर.नारमन,[25] लगभग ई.पू.400	

भगवान महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण करने हेतु जैन साहित्यिक स्रोतों के साथ-साथ हमें अनुश्रुतियों और अभिलेखीय साक्ष्यों पर भी विचार करना होगा। पूर्वोक्त मान्यताओं में कौनसी मान्यता प्रामाणिक है, इसका निश्चय करने के लिए हम तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण करेंगे और यथासम्भव साक्ष्यों को प्राथमिकता देंगे।

भगवान महावीर के समकालिक व्यक्तियों में भगवान बुद्ध, बिम्बसार, श्रेणिक और अजातशत्रु कूणिक के नाम सुपरिचित हैं। जैन स्रोतों की अपेक्षा इनके सम्बन्ध में बौद्ध स्रोत हमें अधिक जानकारी प्रदान करते हैं। जैन स्रोतों के अध्ययन से भी इनकी समकालिकता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। जैन आगम साहित्य बुद्ध के जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध में प्रायः मौन है, किन्तु बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में महावीर और बुद्ध की समकालिक उपस्थिति के अनेक सन्दर्भ हैं। यहाँ हम उनमें से केवल दो प्रसंगों की चर्चा करेंगे। प्रथम प्रसंग में दीर्घनिकाय का वह उल्लेख आता है, जिसमें अजातशत्रु

अपने समय के विभिन्न धर्माचार्यों से मिलता है। इस प्रसंग में अजातशत्रु का महामात्य निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के सम्बन्ध में कहता है--'हे देव! ये निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र संघ और गण के स्वामी हैं, गण के आचार्य हैं, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थंकर हैं, बहुत से लोगों के श्रद्धास्पद और सज्जन मान्य हैं। ये चिरप्रव्रजित एवं अर्थगतवय (अधेड़)हैं।[26]' तात्पर्य यह है कि अजातशत्रु के राज्यासीन होने के समय महावीर लगभग 50 वर्ष के रहे होंगे, क्योंकि उनका निर्वाण अजातशत्रु कोणिक के राज्य के 22 वें वर्ष में माना जाता है। उनकी सर्व आयु 72 वर्ष में से 22 वर्ष कम करने पर उस समय वे 50 वर्ष के थे–यह सिद्ध हो जाता है।[27] जहाँ तक बुद्ध का प्रश्न है, वे अजातशत्रु के राज्यासीन होने के 8 वें वर्ष में निर्वाण को प्राप्त हुए, ऐसी बौद्ध लेखकों की मान्यता है।[28] इस आधार पर दो तथ्य फलित होते हैं–प्रथम, महावीर जब 50 वर्ष के थे, तब बुद्ध (80–8) 72 वर्ष के थे, अर्थात् बुद्ध, महावीर से उम्र में 22 वर्ष बड़े थे। दूसरे यह कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के (22–8=14) 14 वर्ष पश्चात् हुआ था। ज्ञातव्य है कि 'दीघनिकाय' के इस प्रसंग में जहाँ निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र आदि छहों तीर्थंकरों को अर्धवयगत कहा गया है, वहाँ गौतम बुद्ध की वय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बताया गया है।[29]

किन्तु, उपर्युक्त तथ्य के विपरीत 'दीघनिकाय' में यह सूचना भी मिलती है कि महावीर बुद्ध के जीवनकाल में ही निर्वाण को प्राप्त हो गए थे। 'दीघनिकाय' के वे उल्लेख निम्नानुसार हैं–

ऐसा मैंने सुना–एक समय भगवान् शाक्य (देश) में वेधन्जा नामक शाक्यों के आम्रवन प्रासाद में विहार कर रहे थे।

उस समय निगण्ठ नातपुत्त(तीर्थंकर महावीर) की पावा में हाल ही में मृत्यु हुई थी। उनके मरने पर निगण्ठों में फूट हो गई थी, दो पक्ष हो गए थे, लड़ाई चल रही थी, कलह हो रहा था। वे लोग एक–दूसरे को वचन–रूपी बाणों से बेधते हुए विवाद करते थे--'तुम इस धर्मविनय (धर्म) को नहीं जानते, मैं इस धर्मविनय को जानता हूँ। तुम भला इस धर्मविनय को क्या जानोगे? तुम मिथ्या प्रतिपन्न हो (तुम्हारा समझना गलत है), मैं सम्यक् प्रतिपन्न हूँ। मेरा कहना सार्थक है और तुम्हारा कहना निरर्थक। जो (बात) पहले कहनी चाहिये थी, वह तुमने पीछे कही और जो पीछे कहनी चाहिये थी, वह तुमने पहले की। तुम्हारा वाद बिना विचार का उल्टा है। तुमने वाद रोपा, तुम निग्रह–स्थान में आ

गये। इस आक्षेप से बचने के लिए यत्न करो, यदि शक्ति है, तो इसे सुलझाओ। मानों निगण्ठों में युद्ध (बध) हो रहा था।'

निगण्ठ नातपुत्त के जो श्वेत–वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य थे, वे भी निगण्ठ के वैसे दुराख्यात (ठीक से न कहे गये), दुष्प्रवेदित (ठीक से न साक्षात्कार किये गये), अ–नैर्याणिक (पार न लगाने वाले), अन्–उपशम–संवर्तनिक (न –शान्तिगामी), अ–सम्यक्–संबुद्ध–प्रवेदित (किसी बुद्ध द्वारा न साक्षात् किया गया), प्रतिष्ठा (नींव) रहित भिन्न–स्तूप, आश्रयरहित धर्म में अन्यमनस्क हो खिन्न और विरक्त हो रहे थे।[30]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर त्रिपिटक साहित्य में महावीर को अधेड़वय का कहा गया है, वहीं दूसरी ओर बुद्ध के जीवनकाल में उनके स्वर्गवास की सूचना भी है। इतना निश्चित है कि दोनों बातें एक साथ सत्य सिद्ध नहीं हो सकतीं। मुनि कल्याणविजयजी आदि ने बुद्ध के जीवनकाल में महावीर के निर्वाण सम्बन्धी अवधारणा को भ्रान्त बताया है, उन्होंने महावीर के कालकवलित होने की घटना को उनकी वास्तविक मृत्यु न मानकर, उनकी मृत्यु का प्रवाद माना है। जैन आगमों में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि उनके निर्वाण के लगभग 16 वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु का प्रवाद फैल गया था, जिसे सुनकर अनेक जैन श्रमण भी अश्रुपात करने लगे थे। चूँकि इस प्रवाद के साथ महावीर के पूर्व शिष्य मंखलीगोशाल और महावीर एवं उनके अन्य श्रमण शिष्यों के बीच हुए कटु–विवाद की घटना जुड़ी हुई थी, अतः दीघनिकाय का प्रस्तुत प्रसंग इन दोनों घटनाओं का एक मिश्रित रूप है, अतः बुद्ध के जीवनकाल में महावीर की मृत्यु के दीघनिकाय के उल्लेख को उनकी वास्तविक मृत्यु न मानकर गोशालक के द्वारा विवाद के पश्चात् फेंकी गई तेजोलेश्या से उत्पन्न दाह ज्वरजन्य तीव्र बीमारी के फलस्वरूप फैले उनकी मृत्यु के प्रवाद का उल्लेख मानना होगा।

चूँकि बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु कुणिक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष [31] में हुआ, अतः महावीर का 22 वें वर्ष [32] में हुआ होगा, अतः इतना निश्चित है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के 14 वर्ष बाद हुआ, इसलिये बुद्ध की निर्वाण की तिथि का निर्धारण महावीर की निर्वाण तिथि को प्रभावित अवश्य करेगा।

सर्वप्रथम हम महावीर की निर्वाण तिथि का जैनस्रोतों एवं अभिलेखों के आधार पर निर्धारण करेंगे और फिर यह देखेंगे कि इस आधार पर बुद्ध की निर्वाण तिथि क्या होगी?

महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण करते समय हमें यह देखना होगा कि आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र की महापद्मनन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य से, आचार्य सुहस्ति की सम्प्रति से, आर्य मंक्षु (मंगू), आर्य नन्दिल, आर्य नागहस्ति, आर्यवृद्ध एवं आर्य कृष्ण की अभिलेखों में उल्लेखित उनके काल से तथा आर्य देवर्द्धिक्षमाश्रमण की वल्लभी के राजा ध्रुवसेन से समकालीनता किसी प्रकार बाधित नहीं हो। इतिहासविद् सामान्यतया इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि चन्द्रगुप्त का राज्यसत्ताकाल ई.पू. 297 से ई.पू. 321 तक रहा है।[33] अतः वही सत्ताकाल भद्रबाहु और स्थूलीभद्र का भी होना चाहिये। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि चन्द्रगुप्त ने नन्दों से सत्ता हस्तगत की थी और अन्तिम नन्द के मंत्री शकडाल का पुत्र स्थूलीभद्र था, अतः स्थूलीभद्र को चन्द्रगुप्त मौर्य का कनिष्ठ समसामयिक और भद्रबाहु को चन्द्रगुप्त मौर्य का वरिष्ठ समसामयिक होना चाहिये। चाहे यह कथन पूर्णतः विश्वसनीय माना जाये या नहीं कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन दीक्षा ग्रहण की थी, फिर भी जैन अनुश्रुतियों के आधार पर इतना तो मानना ही होगा कि भद्रबाहु और स्थूलीभद्र चन्द्रगुप्त मौर्य के समसामायिक थे। स्थूलीभद्र के वैराग्य का मुख्य कारण उसके पिता के प्रति नन्दवंश के अन्तिम शासक महापद्मनन्द का दुर्व्यवहार और उनकी घृणित हत्या मानी जा सकती है।[34] पुनः; स्थूलीभद्र भद्रबाहु से नहीं, अपितु सम्भूतिविजय से दीक्षित हुए थे। पाटलीपुत्र की प्रथम वाचना के समय वाचना प्रमुख भद्रबाहु और स्थूलीभद्र न होकर सम्भूतिविजय रहे हैं, क्योंकि उस वाचना में ही स्थूलीभद्र को भद्रबाहु से पूर्व–ग्रन्थों का अध्ययन कराने का निश्चय किया गया था, अतः प्रथम वाचना नन्द शासन के ही अन्तिम चरण में कभी हुई है। इस प्रथम वाचना का काल वीरनिर्वाण संवत् माना जाता है। यदि हम एक बार दोनों परम्परागत मान्यताओं को सत्य मानकर यह मानें कि आचार्य भद्रबाहु वीरनिर्वाण सं.156 से 170 तक आचार्य रहे[35] और चन्द्रगुप्त मौर्य वीरनिर्वाण सं. 215 में राज्यासीन हुआ, तो दोनों की सम–सामयिकता सिद्ध नहीं होती है। इस मान्यता का फलित यह है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यासीन होने के 45 वर्ष पूर्व ही भद्रबाहु स्वर्गवासी हो चुके थे। इस आधार पर स्थूलीभद्र चन्द्रगुप्त मौर्य के लघु–सम–सामयिक भी नहीं रह जाते हैं। अतः, हमें यह मानना होगा कि चन्द्रगुत मौर्य वीरनिर्वाण के 155 वर्ष पश्चात् ही राज्यासीन हुआ। हिमवन्त स्थविरावली[36] एवं आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व [37] में भी यही तिथि मानी गई है। इस आधार पर भद्रबाहु और स्थूलीभद्र की चन्द्रगुप्त मौर्य से सम–सामयिकता भी सिद्ध हो जाती है। लगभग सभी पट्टावलियाँ भद्रबाहु के आचार्यत्वकाल

का समय वीरनिर्वाण 156–170 मानती हैं।[38] दिगम्बर परम्परा में भी तीन केवली और पाँच श्रुतकेवलि का कुल समय 162 वर्ष माना गया है। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवलि थे, अतः दिगम्बर परम्परानुसार भी उनका स्वर्गवास वीरनिर्वाण सं.162 मानना होगा।[39] इस प्रकार दोनों परम्पराओं के अनुसार भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की सम–सामयिकता सिद्ध हो जाती है। मुनि श्री कल्याणविजयजी ने चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की सम–सामयिकता सिद्ध करने हेतु सम्भूतिविजय का आचार्यत्वकाल 8 वर्ष के स्थान पर 60 वर्ष मान लिया। इस प्रकार, उन्होंने एक ओर महावीर का निर्वाण समय ई.पू.527 मानकर भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की सम सामयिकता स्थापित करने का प्रयास किया,[40] किन्तु इस सन्दर्भ में आठ का साठ मान लेना उनकी अपनी कल्पना है, इसका प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है।[41] सभी श्वेताम्बर पट्टावलियाँ वीरनिर्वाण सं.170 में ही भद्रबाहु का स्वर्गवास मानती हैं। पुनः तित्थोगाली में भी यही निर्दिष्ट है कि वीरनिर्वाण संवत् 170 में चौदह पूर्वों के ज्ञान का विच्छेद (क्षय) प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु ही अन्तिम 14 पूर्वधर थे, उनके बाद कोई भी 14 पूर्वधर नहीं हुआ, अतः भद्रबाहु का स्वर्गवास श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. 170 में और दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण सं. 162 ही सिद्ध होता है और इस आधार पर भद्रबाहु एवं स्थूलीभद्र की अन्तिम नन्द एवं चन्द्रगुप्त मौर्य से सम–सामयिकता तभी सिद्ध हो सकती है, जब महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व 410 तथा ई.पू.467 माना जाये। अन्य सभी विकल्पों में भद्रबाहु एवं स्थूलीभद्र की अन्तिम नन्दराजा और चन्द्रगुप्त मौर्य से समकालिकता घटित नहीं हो सकती है। 'तित्थोगाली पइन्नयं' में भी स्थूलीभद्र और नन्दराजा की समकालिकता वर्णित है।[42] अतः, इन आधारों पर महावीर का निर्वाण ई.पू.467 ही अधिक युक्तिसंगत लगता है।

पुनः, आर्य सुहस्ति और सम्प्रति राजा की समकालीनता भी जैन परम्परा में सर्वमान्य है। इतिहासकारों ने सम्प्रति का समय ई.पू.231–221 माना है।[43] जैन पट्टावलियों के अनुसार आर्य सुहस्ति युग प्रधान आचार्यकाल वीरनिर्वाण सं.245–291 तक रहा है। यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू.527 को आधार बनाकर गणना करें, तो यह मानना होगा कि आर्य सुहस्ति ई.पू.282 में युग प्रधान आचार्य बने और ई.पू.236 में स्वर्गवासी हो गए। इस प्रकार, वीरनिर्वाण ई.पू.527 में मानने पर आर्य सुहस्ति और सम्प्रति राजा में किसी भी रूप में समकालीनता नहीं बनती है, किन्तु यदि हम वीरनिर्वाण

ई.पू.467 मानते हैं, तो आर्य सुहस्ति आचार्यकाल 467–245 ई.पू. 222 से प्रारम्भ होता है। इससे समकालीनता तो बन जाती है, यद्यपि आचार्य के आचार्यत्वकाल में सम्प्रति का राज्यकाल लगभग 1 वर्ष ही रहता है, किन्तु आर्य सुहस्ति का सम्पर्क सम्प्रति से उसके यौवराज्य काल में, जब वह अवन्ति का शासक था, तब हुआ था और सम्भव है कि तब आर्य सुहस्ति संघ के युग प्रधान आचार्य न होकर भी प्रभावशाली मुनि रहे हों। ज्ञातव्य है कि आर्य सुहस्ति स्थूलीभद्र से दीक्षित हुए थे। पट्टावलियों के अनुसार स्थूलीभद्र की दीक्षा वीरनिर्वाण सं.146 में हुई थी और स्वर्गवास वीरनिर्वाण 215 में हुआ था। इससे यह फलित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के 9 वर्ष पूर्व अन्तिम नन्द राजा (नव नन्द) के राज्यकाल में वे दीक्षित हो चुके थे। यदि पट्टावली के अनुसार आर्य सुहस्ति की सर्व आयु 100 वर्ष और दीक्षा आयु 30 वर्ष मानें, तो वे वीरनिर्वाण सं.221 अर्थात् ई.पू.246 (वीरनिर्वाण ई.पू.467 मानने पर) में दीक्षित हुए हैं। इससे आर्य सुहस्ति की सम्प्रति से कोई समकालिकता तो सिद्ध हो जाती है, किन्तु उन्हें स्थूलीभद्र का हस्त–दीक्षित मानने में 6 वर्ष का अन्तर आता है, क्योंकि उनके दीक्षित होने के 6 वर्ष पूर्व ही वीरनिर्वाण सं. 215 में स्थूलीभद्र का स्वर्गवास हो चुका था। सम्भावना यह भी हो सकती है कि सुहस्ति 30 वर्ष की आयु के स्थान पर 23–24 वर्ष में ही दीक्षित हो गये हों, फिर भी यह सुनिश्चित है कि पट्टावलियों के उल्लेखों के आधार पर आर्य सुहस्ति और सम्प्रति की समकालीनता वीरनिर्वाण ई.पू.467 पर ही सम्भव है। उसके पूर्व ई.पू.527 में अथवा उसके पश्चात् की किसी भी तिथि को महावीर का निर्वाण मानने पर यह समकालीनता सम्भव नहीं है।

इस प्रकार, भद्रबाहु और स्थूलीभद्र की महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य से तथा आर्य सुहस्ति की सम्प्रति से समकालीनता वीरनिर्वाण ई.पू.467 मानने पर सिद्ध की जा सकती है। अन्य सभी विकल्पों में इनकी समकालिकता सिद्ध नहीं होती है। अतः, मेरी दृष्टि में महावीर का निर्वाण ई.पू.467 मानना अधिक युक्तिसंगत होगा।

अब हम कुछ अभिलेखों के आधार पर भी महावीर के निर्वाण समय पर विचार करेंगे–

मथुरा के अभिलेखों[44] में उल्लेखित पाँच नामों में से नन्दिसूत्र स्थविरावली[45] के आर्य मंगु, आर्य नन्दिल और आर्य हस्ति (हस्त हस्ति)–ये तीन नाम तथा कल्पसूत्र

स्थविरावली[46] के आर्य कृष्ण और आर्य वृद्ध–ये दो नाम मिलते हैं। पट्टावलियों के अनुसार आर्य मंगु का युग–प्रधान आचार्यकाल वीरनिर्वाण संवत् 451 से 470 तक माना गया है।[47] वीर निर्वाण ई.पू.467 मानने पर इनका काल ई.पू.16 से ई.सन् 3 तक और वीर निर्वाण ई.पू.527 मानने पर इनका काल ई.पू.76 से ई.पू.57 आता है। जबकि अभिलेखीय आधार पर इनका काल शक सं. 52 (हुविष्क वर्ष 52) अर्थात् ई.सन् 130 आता है।[48] अर्थात् इनके पट्टावली और अभिलेख के काल में वीरनिर्वाण ई.पू.527 मानने पर लगभग 200 वर्षों का अन्तर आता है और वीरनिर्वाण ई.पू.467 मानने पर भी लगभग 127 वर्ष का अन्तर तो बना ही रहता है। अनेक पट्टावलियों में आर्य मंगु का उल्लेख भी नहीं है, अतः उनके काल के सम्बन्ध में पट्टावलीगत अवधारणा प्रामाणिक नहीं है। पुनः, आर्य मंगु का नाम मात्र जिस नन्दीसूत्र स्थविरावली में है और यह स्थविरावली भी गुरु–शिष्य परम्परा की सूचक नहीं है। अतः बीच में कुछ नाम छूटने की सम्भावना है जिसकी पुष्टि स्वयं मुनि कल्याणविजयजी ने भी की है।[49] इस प्रकार, आर्य मंगु के अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर महावीर के निर्वाणकाल का निर्धारण सम्भव नहीं है, क्योंकि इस आधार पर ई.पू.527 की परम्परागत मान्यता ई.पू.467 की विद्वन्मान्य मान्यता–दोनों ही सत्य सिद्ध नहीं होती हैं। अभिलेख एवं पट्टावली का समीकरण करने पर इससे वीरनिर्वाण ई.पू.360 के लगभग फलित होता है। इस अनिश्चितता के कारण आर्य मंगु के काल को लेकर विविध भ्रान्तियों की उपस्थिति है।

जहाँ तक आर्य नन्दिल का प्रश्न है, हमें उनके नाम का उल्लेख भी नन्दिसूत्र में मिलता है। नन्दिसूत्र में उनका उल्लेख आर्य मंगु के पश्चात् और आर्य नागहस्ति के पूर्व मिलता है।[50] मथुरा के अभिलेखों में नन्दिक (नन्दिल) का एक अभिलेख शक–सम्वत् 32 का है। दूसरे शक सं.93 के लेख में नाम स्पष्ट नहीं है, मात्र 'न्दि' मिला है।[51] आर्य नन्दिल का उल्लेख प्रबन्धकोश एवं कुछ प्राचीन पटटावलियों में भी है, किन्तु कहीं पर भी उनके समय का उल्लेख नहीं होने से इस अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर महावीर के निर्वाण काल का निर्धारण सम्भव नहीं है।

अब हम नागहस्ति की ओर जाते हैं––सामान्यतया सभी पट्टावलियों में आर्य वज्र का स्वर्गवास वीरनिर्वाण सं.584 में माना गया है। आर्य वज्र के पश्चात् 13 वर्ष आर्य रक्षित, 20 वर्ष पुष्यमित्र और 3 वर्ष वज्रसेन युगप्रधान रहे अर्थात् वीरनिर्वाण सं.620 में

वज्रसेन का स्वर्गवास हुआ। मेरुतुंग की विचारश्रेणी में इसके बाद आर्य निर्वाण 621 से 690 तक युगप्रधान रहे।[52] यदि मथुरा अभिलेख के हस्तहस्ति ही नागहस्ति हों, तो माघहस्ति के गुरु के रूप में उनका उल्लेख शक सं.52 के अभिलेख में मिलता है, अर्थात् वे ई.सन् 132 के पूर्व हुए हैं। यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू.467 मानते हैं, तो उनका युग प्रधान काल ई.सन् 154–223 आता है। अभिलेख उनके शिष्य को ई.सन् 132 में होने की सूचना देता है, यद्यपि यह मानकर सन्तोष किया जा सकता है कि युग प्रधान होने के 22 वर्ष पूर्व उन्होंने किसी को दीक्षित किया होगा। यद्यपि इनकी सर्वायु 100 वर्ष मानने पर तब उनकी आयु मात्र 11 वर्ष होगी और ऐसी स्थिति में उनके उपदेश से किसी का दीक्षित होना और उस दीक्षित शिष्य द्वारा मूर्ति प्रतिष्ठा होना असम्भव सा लगता है, किन्तु यदि हम परम्परागत मान्यता के आधार पर वीरनिर्वाण को शक संवत् 605 पूर्व या ई.पू.527 मानते हैं, तो पट्टावलीगत उल्लेखों और अभिलेखीय साक्ष्यों में संगति बैठ जाती है। इस आधार पर उनका युगप्रधान काल शक सं.16 से शक सं.85 के बीच आता है और ऐसी स्थिति में शक सं.54 में उनके किसी शिष्य के उपदेश से मूर्ति प्रतिष्ठा होना सम्भव है। यद्यपि 69 वर्ष तक उनका युग प्रधानकाल मानना सामान्य बुद्धि से युक्तिसंगत नहीं लगता है। अतः, नागहस्ति सम्बन्धी यह अभिलेखीय साक्ष्य पट्टावली की सूचना को सत्य मानने पर महावीर का निर्वाण ई.पू.527 मानने के पक्ष में जाता है।

पुनः, मथुरा के एक अभिलेखयुक्त अंकन में आर्यकृष्ण का नाम सहित अंकन पाया जाता है। यह अभिलेख शक संवत् 95 का है।[53] यदि हम आर्यकृष्ण का समीकरण कल्पसूत्र स्थविरावली में शिवभूति के बाद उल्लिखित आर्यकृष्ण से करते हैं,[54] तो पट्टावलियों एवं विशेषावश्यकभाष्य के आधार पर इनका सत्ता समय वीरनिर्वाण सं.609 के आसपास निश्चित होता है।[55] क्योंकि इन्हीं आर्यकृष्ण और शिवभूति के वस्त्र सम्बन्धी विवाद के परिणामस्वरूप बोटिक निह्नव की उत्पत्ति हुई थी और इस विवाद का काल वीरनिर्वाण सं. 609 सुनिश्चित है। वीरनिर्वाण ई.पू.467 मानने पर उस अभिलेख का काल 609–467=142 ई.आता है। यह अभिलेखयुक्त अंकन 95+78=173 ई. का है। चूँकि अंकन में आर्यकृष्ण को एक आराध्य के रूप में अंकित करवाया गया है, यह स्वाभाविक ही है कि उनकी ही शिष्य परम्परा के किसी आर्य अर्ह द्वारा ई.सन् 173 में यह अंकन उनके स्वर्गवास के 20–25 वर्ष बाद ही हुआ होगा। इस प्रकार, यह अभिलेखीय साक्ष्य वीरनिर्वाण संवत् ई.पू.467 मानने पर ही अन्य साहित्यिक उल्लेखों से संगति रख

सकता है, अन्य किसी विकल्प से इसकी संगति बैठाना सम्भव नहीं है।

मथुरा अभिलेखों में एक नाम आर्यवृद्धहस्ति का भी मिलता है। इनके दो अभिलेख मिलते हैं। एक अभिलेख शक सं.60 (हुविष्क वर्ष 60) और दूसरा शक सं. 79 का है।[56] ईस्वी सन् की दृष्टि से ये दोनों अभिलेख ई.सन् 138 और ई.सन् 157 के हैं। यदि ये वृद्धहस्ति ही कल्पसूत्र स्थविरावली के आर्यवृद्ध और पट्टावलियों के वृद्धदेव हों, तो पट्टावलियों के अनुसार उन्होंने वीर निर्वाण 695 में कोरंटक में प्रतिष्ठा करवाई थी।[57] यदि हम वीरनिर्वाण ई.पू.467 मानते हैं, तो यह काल 695-467=218 ई.आता है, अतः वीरनिर्वाण ई.पू.527 मानने पर इस अभिलेखीय साक्ष्य और पट्टावलीगत मान्यता का समीकरण ठीक बैठ जाता है। पट्टावली में वृद्ध का क्रम 25वाँ है। प्रत्येक आचार्य का औसत सत्ताकाल 25 वर्ष मानने पर इनका समय वीरनिर्वाण ई.पू.467 मानने पर भी अभिलेख से वीरनिर्वाण 625 आयेगा और तब 625-467=158 ई.संगति बैठ जायेगी।

अन्तिम साक्ष्य जिस पर महावीर की निर्वाण तिथि का निर्धारण किया जा सकता है, वह है- महाराज ध्रुवसेन के अभिलेख और उनका काल। परम्परागत मान्यता यह है कि वल्लभी की वाचना के पश्चात् सर्वप्रथम कल्पसूत्र की सभा के समक्ष वाचना आनन्दपुर (बड़नगर) में महाराज ध्रुवसेन के पुत्र मरण के दुःख को कम करने के लिए की गई। यह काल वीर निर्वाण सं.980 या 993 माना जाता है।[58] ध्रुवसेन के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं। ध्रुवसेन प्रथम का काल ई.सं.525 से 550 तक माना जाता है।[59] यदि यह घटना उनके राज्यारोहण के द्वितीय वर्ष ई.सन् 526 की हो, तो महावीर का निर्वाण 993-526=469 ई.पू.सिद्ध होता है।

इस प्रकार, इन पाँच अभिलेखीय साक्ष्यों में तीन तो ऐसे अवश्य हैं, जिनसे महावीर का निर्वाण ई.पू.467 सिद्ध होता है, जबकि दो ऐसे हैं, जिनसे वीरनिर्वाण ई.पू.527 भी सिद्ध हो सकता है। एक अभिलेख की इनसे कोई संगति नहीं है। ये असंगतियाँ इसलिए भी हैं कि पट्टावलियों में आचार्यों का जो काल दिया गया है, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है और आज हमारे पास ऐसा कोई आधार नहीं है जिसके आधार पर इस असंगति को समाप्त किया जा सके। फिर भी, इस विवेचना में हम यह पाते हैं कि अधिकांश साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्य महावीर के निर्वाण काल को ई.पू.467 मानने की ही पुष्टि करते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्ध निर्वाण ई.पू.482, जिसे अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने मान्य किया

है, मानना होगा और तभी यह सिद्ध होगा कि बुद्ध के निर्वाण के लगभग 15 वर्ष पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ।

****

संदर्भ

1. (अ) णिव्वाणे वीर जिणे छव्वाससदेसु पंचवारिसेसु। पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा।।–लियोयपण्णत्ति, 4/1499

   (ब) पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया। परिणिव्वसुअस्सऽरिहतो सो उण्णणो सगो राया।। – तित्थोगाली पइन्नइ 623.

2. पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, 1956, पृ. 26–44, 45–46
3. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, प्रकाशक वि. शास्त्र समिति, जालौर (मारवाड़) पृ. 159.
4. तित्थोगाली पइन्नयं (गाथा 623), पइण्णयसुत्ताइं, सं. मुनि पुण्यविजय, प्रकाशक श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 400036
5. तिलोयपण्णत्ति, 4/1499, सं. प्रो. हीरालाल जैन, जैन संस्कृतिरक्षक संघ शोलापुर,
6. लल्पसूत्र, 147, पृ. 145, अनुवादक माणिकमुनि, प्रकाशक–सोभागमल हरकावत, अजमेर।
7. ठाणं (स्थानांग), अगुंसुत्ताणि भाग 1, आचार्य तुलसी, जैनविश्वभारती, लाडनू 7/141.
8. भगवई 9/222–229 (अंगसुत्ताणि भाग– 2/ आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती लाडनू)
9. बहुरय पएस अव्वत्तसमुच्छादुगतिग अबद्धिया चेव।

   सत्तेए णिणहगा खुल तित्थमि उ वद्धमाणस्स।।

   बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।

   अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ।।

   गगाओ दोकिरिया छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती।

   थेराय गोट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति।।

   सावत्थी उसभपुर सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं।

   पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराइ।।

   चोद्दस सोलस वासा चौद्दसवीसुत्तरा य दोण्णि सया।

   अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला।।

   पंच सया चलसीया छच्चेव सया णवोत्तरा होंति।

   णाणुपत्तीय दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा।।

   – आवश्यकनिर्युक्ति 778–783 (निर्युक्तिसंग्रह–सं. विजयजिनसेन सूरीश्वर हर्षपुष्पामृत, जैनग्रन्थमाला, लाखा बाखल, सौराष्ट्र, 1989)

10. वीरजिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठिवासपरिमाणे। कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णे एत्थ सकराओ।।461।

अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयब्महिए। पणसीदिम्मि यतीदे पणमासे सकणिओ जादे। 9785. मास 5.

चोद्दससहस्ससगसयतेणउदीवासकालविच्छेदे। वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णे सगणिओ अहवा।।14793।।

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेषु पंचवरिसेसुं। पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा।।605 मा 5।।

– तिलोयपण्णति 4/1496–1499

11. भवणिदेसु पंचमासाहियपंचुत्तरछस्सदवासाणि हवंति। एसो वीरजिणिंदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदियकालो। कुदो ? 605/5 एदम्हि काले सगणरिंदकालम्मि पक्खित्ते वड्टमाणजिणणिव्वुदकालागमणादो। वुत्तं च –

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।

सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी।।

अण्णे के वि आइरिया चोद्दससहस्स–सत्तसद–तिणउदिवासेसु जिणणिव्वाणदिणादो अइक्कंतेसु सगणरिंदुप्पत्तिं भणंति 14793। वृत्तं च –

गुत्ति–पयत्थ–भयाइं चोद्दसरयणाइ समइकंताई।

परिणिव्वुदे जिणिंदे तो रज्ज सगणरिंदस्स।।

अण्णे के वि आइरिया एवं भणंति। तं जहा –

सत्तसहस्स–णवसय–पंचाणउदिवरिसेसु पंचधमासाहिएसु बड्ढमाणजिण–

णिव्वुददिणादो अइक्कंतेसु सगंणरिंदरज्जुप्पत्ती जादो त्ति। एत्थ गाहा –

सत्तसहस्सा णवसद पंचाणउदी सपंचमासा य।

अइकंता वासाणं जइया तइया सगुप्पत्ती।।

एदेसु तिसु एक्केण होदव्वं। ण तिण्णमुवदेसाण सच्चत्तं, अण्णोण्णविरोहादो।

तदो जाणिय वत्तव्वं।

–धवला टीका समन्वित षट्खण्डागम खण्ड भाग 4, 1, पुस्तक 9, पृ. 132–133.

12. समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खपहीणस्स नव वास सयाइं विइकंताइं दसमस्स वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ, वायणंतरे पुण अयं वायणं तेरे पुण अयं ते णउए संवच्छरे काले गच्छइ इह दीसइ।

– कल्पसूत्र (मणिकमुनि, अजमेर) 147, पृ. 145

13. पालगरण्णो सट्ठी पणपण्णसयं वियाणं णंदाणं।

मरुयाणं अट्ठसयं तीसा पुण पुसमित्ताणं।।

– तित्थोगाली पइन्नयं (पइण्णयसुत्ताइं), 621

60 पालक+155 नन्दवंश=215 बीतने पर मौर्यवंश का शासन प्रारम्भ हुआ।

14. एवंच श्री महावीर मुलेर्वर्षशते, पंच पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः।

– परिशिष्टपर्व, हेमचन्द्र, सर्ग, 8/339 (जैन धर्म प्रसारक संस्था भावनगर)

15. ज्ञातव्य है चन्द्रगुप्त मौर्य को वीर निर्वाण सं. 215 में राज्यासीन मानकर ही, वीरनिर्वाण ई.पू. 527 में माना जा सकता है, किन्तु उसे वीरनिर्वाण 155 में राज्यासीन मानने पर वीरनिर्वाण ई.पू. 467 मानना होगा।

16. Jacobi, V. Harman - Buddhas and Mahaviras Nirvana and die politische Entwiclund Magadhas Zu Jarier Zelt. 557.

17. Charpentier Jarl - Uttradhyanasutra, Introducing P. 13-16.

18. अनेकान्त, वर्ष 4, किरण 10, शास्त्री ए.शान्तिराज– भगवान् महावीर के निर्वाण सम्वत् की समालोचना।

19. Indian Antiguary, Vol. XLVI, 1917, July 1917, Page 151-152, Swati Publications, Delhi, 1985.

20. The journal of the Royal Asiatic Society, 1917, Vanteshvara, S.V. - The date of Vardhamana P. 122-130.

21. मुख्तार जुगलकिशोर– ''जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश'', श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, ई. सन् 1956, पृ. 26–56.

22. मुनि कल्याणविजय– वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना प्रकाशक क. वि. शास्त्र समिति जालौर, वि. सं. 1987.

23. Eggermont, P.H.L. - "The year of Mahavira's Decease".

24. Smith, V.A. - The Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura, Indological Book House, Delhi, 1969, P. 14.

25. Norman K.R. - Observations on the Dates of the Jaina and the Buddh.

26. अञ्ञतरो पिखो राजामच्चो राजानं मागधं, अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच– ''अयं देव, निगण्ठो नाटपुत्तो सङ्घी चेव गणी च गणाचरिय च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयोअनुप्पत्तो।

– दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तं, 2/1/7

27. देखें – मुनि कल्याण विजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, पृ. 4–5.

28. देखें – मुनि कल्याणविजय वीरनिर्वाण और जैन कालगणना, पृ. 1

29. देखें – दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्तं, 2/2/8.

30. एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति वेधञ्ञा नाम सक्या तेसं अम्बवने पासादे। तेन खो

पन समयेन निगण्ठो नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति– ''न त्वं इमं धम्मविनयं आजासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं इमं धम्मविनयं आजानिस्ससि? मिच्छापटिपन्नो त्वमसि अहमस्मि सम्मापटिपन्नो। सहितं मे, असहितं ते। पुरेवचनीयं पच्छा अवच, पच्छा–वचनीयं पुरे अवच। अधिचिण्णं ते विपरावत्तं। अरोपितो ते वादो। निग्गहितो त्वमसि। चर वादप्पमोक्खाय। निब्बेठेहि वा सचे पहोसी'' ति। वधो येव खो मञ्ञे निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु वत्तति। ये पि निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना ते पि निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु निब्बिन्नरूपा विरत्तरूपा पटिवानरूपा – यथा तं दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानिके अनुपसमसंवत्तनिके असम्मासम्बुद्धप्पवेदिते भिन्नथूपे अप्पटिसरणे।

– दीघनिकाय, पासादिकसुत्तं, 6/1/1

31. देखें –

32. देखें – मुनि कल्याणविजय वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना।

33. (अ) Majumdar, R.C. Ancient India, Published by Motilal Banarsidas, Banaras, 1952, P. 108.
(ब) डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी – प्राचीन भारत का इतिहास, मोतीलाल, बनारसीदास, 1968, पृ. 139

34. तित्थोगाली पइन्नयं, 78 (पइण्णया सुत्ताइं, महावीर विद्यालय, बम्बई)

35. ज्ञातव्य है कि लगभग सभी श्वेताम्बर पट्टावलियाँ इसी काल का उल्लेख करती हैं।देखें – विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह (प्रथम भाग) मुनि जिनविजय सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई, 1961

36. ज्ञातव्य है कि हिमवत् स्थिरावली की मूलप्रति उसके गुजराती अनुवाद के पश्चात् उपलब्ध नहीं हो पा रही है। पं. हीरालाल हंसराज जामनगर का उसका गुजराती अनुवाद ही इसका एक मात्र आधार है। इसमें महावीर के निर्वाण के पश्चात् साठ वर्ष कुणिक और उदायी का राज्यकाल दिखाकर उसके पश्चात् नन्दों के 94 वर्ष दिखाकर वीरनिर्वाण 155 में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्योरोहण दिखाया गया है। देखें – वीरनिर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना मुनि कल्याणविजय, पृ. 178.

37. परिशिष्ट पर्व, हेमचन्द्र, 8/339

38. देखें – (अ) पट्टावली पराग संग्रह – मुनि कल्याणविजयजी
(ब) विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह– प्रथम भाग सम्पादक–जिनविजय, सिंघी जैन –शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

39. धवला टीका समन्वित षट्खण्डागम, खण्ड, पुस्तक

40. (अ) मुनि कल्याणविजय–पट्टावलीपरागसंग्रह, क.वि. शास्त्रसंग्रह समिति जालौर, 1966, पृ.52 मुनिजी द्वारा किये गये अन्य परिवर्तनों के लिये देखें – पृ. 49–50

(ब) मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, पृ. 137.
ज्ञातव्य है कि मुनिजी ने मौर्यकाल को 108 के स्थान पर 160 बनाने का प्रयत्न किया है, वह इतिहास सम्मत नहीं है।

41. ज्ञातव्य है कि मुनिजी द्वारा एक और सम्भूति विजय के स्वर्ग के काल को साठ वर्ष करना और दूसरी ओर मौर्यों के इतिहास सम्मत 108 वर्ष के काल को एक सौ साठ वर्ष करना केवल अपनी मान्यता की पुष्टि का प्रयास है।

42. तित्थोगाली पइन्नयं – पइण्णा सुत्ताइं । – सं. पुण्यविजयजी महावीर विद्यालय, 793, 794.

43. डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का सतिहास, मोतीलाल बनारसीदास, 1968, पृ. 139
ज्ञातव्य है ''इन्होंने सम्प्रतिकाल 216–207 ई.पू. माना है।

44. (अ) देखें – जैन शिलालेख संग्रह भाग 2, प्रकाशक मणिकचन्द्र दिगम्बर ग्रन्थमाला, 1952, लेख क्रमांक 41, 54, 55, 56, 59, 63
(ब) आर्यकृष्ण (कण्ह) के लिये देखें – V.A. Smith - The jain S. and other Antiquities of Mathura, P. 24.

45. नन्दी सूत्र स्थविरावली 27, 28, 29.

46. कल्पसूत्र स्थविरावली (अन्तिम गाथा भाग) गाथा 1 एवं 4

47. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, जालौर, पृ. 122, 3–युगप्रधान पट्टावलियाँ।

48. देखं – जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, स सितम्बर 1952, लेख क्रमांक 54.

49. मुनि कल्याणविजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, जालौर, पृ. 121

50. देखं – नंदीसूत्र स्थविरावली 27, 28 एवं 29

51. देखें – जैन शिलालेख संग्रह भाग –2, लेख क्रमांक 41, 67.

52. मुनि कल्याण विजय, वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना, जालौर, पृ. 106.

53. V.A. Smith, the Jain Stupa and other Antiquities of Mathura P.

54. कल्पसूत्र स्थविरावली (अन्तिम गाथा भाग), गाथा 1

55. विशेषावश्यक भाष्य

56. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2, लेख क्रमांक 56, 59.

57. मुनि जिनविजय विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह, प्रथम भाग, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृ. 17

58. कल्पसूत्र (सं. माणिकमुनि, अजमेर) 147.

59. गुजरात नो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास ग्रन्थ 3, वी.जे. इंस्टीट्यूट अहमदाबाद–9, पृ. 40.

--***--

6 युगीन परिवेश में महावीर स्वामी के सिद्धान्त

आज सम्पूर्ण विश्व अशान्त एवं तनावपूर्ण स्थिति में है। बौद्धिक विकास से प्राप्त विशाल ज्ञान–राशि और वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख–सुविधा एवं आर्थिक समृद्धि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक एवं सामाजिक विपन्नता को दूर नहीं कर पायी है। ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा देने वाले सहस्त्राधिक महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के होते हुए भी आज का शिक्षित मानव अपनी स्वार्थपरता और भोग–लोलुपता पर विवेक एवं संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है। भौतिक सुख–सुविधाओं का यह अंबार भी उसके मानस को सन्तुष्ट नहीं कर सका है। आवागमन के सुलभ साधनों ने विश्व की दूरी को कम कर दिया है, किन्तु मनुष्य–मनुष्य के बीच ह्रदय की दूरी आज ज्यादा हो गई है। सुरक्षा के साधनों की यह बहुलता आज भी उसके मन में अभय का विकास नहीं कर पायी है। आज भी मनुष्य उतना ही आशंकित, आतंकित और आक्रामक है, जितना आदिम युग में रहा होगा। मात्र इतना ही नहीं, आज विध्वंसकारी शस्त्रों के निर्माण के साथ उसकी यह आक्रामक वृत्ति अधिक विनाशकारी बन गई है और आज शस्त्र निर्माण की इस अंधी दौड़ में सम्पूर्ण मानव जाति की अन्त्येष्टि की सामग्री ही मानो तैयार की जा रही है। आर्थिक सम्पन्नता की इस अवस्था में भी मनुष्य उतना ही अर्थलोलुप है, जितना कि वह आदिम युग में कभी रहा होगा। आज मनुष्य की इस अर्थ लोलुपता ने मानव जाति को शोषक और शोषित के दो ऐसे वर्गों में बाँट दिया है, जो एक दूसरे को पूरी तरह निगल जाने की तैयारी कर रहे हैं। एक भोगाकांक्षा और तृष्णा की दौड़ में पागल है, तो दूसरा पेट की ज्वाला को

शान्त करने के लिए व्यग्र और विक्षुब्ध। आज विश्व में वैज्ञानिक तकनीक और आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से सबसे अधिक विकसित राष्ट्र यूएसए मानसिक तनावों एवं आपराधिक प्रवृत्तियों के कारण सबसे अधिक परेशान है। इस संबंध में उसके आँकड़े चौंकाने वाले हैं। आज मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तो यह है कि इस तथाकथित सभ्यता के विकास के साथ उसकी आदिम युग की एक सहज, सरल एवं स्वाभाविक जीवन-शैली भी उससे छिन गई है। आज जीवन के हर क्षेत्र में कृत्रिमता और छद्मों का बोलबाला है। उसके भीतर उसका 'पशुत्व' कुलांचे भर रहा है, किन्तु बाहर से वह अपने को 'सभ्य' दिखाना चाहता है। अन्दर वासना की उद्दाम ज्वालाएँ और बाहर सच्चरित्रता और सदाशयता का छद्म जीवन-यही आज के मानव-जीवन की त्रासदी है, पीड़ा है। आसक्ति, भोगलिप्सा, भय, क्रोध, स्वार्थ और कपट की दमित मूल प्रवृत्तियाँ और उनसे जनित दोषों के कारण मानवता आज भी अभिशप्त है। आज वह दोहरे संघर्ष से गुजर रही है-एक आन्तरिक और दूसरा- बाह्य। आन्तरिक संघर्षों के कारण आज उसका मानस तनावयुक्त है-विक्षुब्ध है, तो बाह्य संघर्षों के कारण सामाजिक जीवन अशान्त, अस्तव्यस्त। आज का मनुष्य परमाणु तकनीक की बारीकियों को अधिक जानता है, किन्तु एक सार्थक सामंजस्यपूर्ण जीवन के आवश्यक मूल्यों के प्रति उसका उपेक्षा भाव है। वैज्ञानिक प्रगति से समाज के पुराने मूल्य ढह चुके हैं और नये मूल्यों का सृजन अभी हो नहीं पाया है। आज हम मूल्य-रिक्तता की स्थिति में जी रहे हैं और मानवता नये मूल्यों की प्रसव पीड़ा से गुजर रही है। आज हम उस कगार पर खड़े हैं, जहाँ मानव जाति का सर्वनाश हमें पुकार रहा है। देखें, इस दुःखद स्थिति में भगवान महावीर के सिद्धान्त हमारा किस तरह मार्गदर्शन कर सकते हैं?

वर्त्तमान मानव जीवन की समस्याएँ हैं- 1. मानसिक अन्तर्द्वंद्व, 2. सामाजिक एवं जातीय संघर्ष, 3. वैचारिक संघर्ष एवं 4. आर्थिक संघर्ष।

अब हम इन चारों समस्याओं पर भगवान् महावीर की शिक्षाओं की दृष्टि से विचार कर यह देखेंगे कि वे इन समस्याओं के समाधान के क्या उपाय हमें बताते हैं?

1. मानसिक अन्तर्द्वंद्व

मनुष्य में उपस्थित राग-द्वेष की वृत्तियाँ और उनसे उत्पन्न क्रोध, मान, माया और

लोभ के आवेग हमारी मानसिक समता को भंग करते हैं। विशेष रूप से राग और द्वेष की वृत्ति के कारण हमारे चित्त में तनाव उत्पन्न होते हैं और इसी मानसिक तनाव के कारण हमारा बाह्य व्यवहार भी असंतुलित हो जाता है, इसलिए भगवान् महावीर ने राग–द्वेष और कषायों अर्थात् अहंकार, लोभ आदि की वृत्तियों पर विजय को आवश्यक माना था। वे कहते थे, कि जब तक व्यक्ति राग–द्वेष से ऊपर नहीं उठ जाता है, तब तक वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। वीतरागता ही महावीर की दृष्टि में जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है। इसी की उपलब्धि के लिए उन्होंने 'समभाव की साधना' पर बल दिया। यदि महावीर की साधना–पद्धति को एक वाक्य में कहना हो, तो हम कहेंगे कि वह समभाव की साधना है। उनके विचारों में धर्म का एकमात्र लक्षण 'समता' है। वे कहते हैं कि समता ही धर्म है। जहाँ समता है, वहाँ धर्म है और जहाँ विषमताएँ हैं, वहीं अधर्म है। आचारांग में उन्होंने कहा था कि आर्यजनों ने समत्व की साधना को ही धर्म बताया है। समत्व की यह साधना तभी पूर्ण होती है, जबकि व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे आवेगों पर विजय पाकर राग–द्वेष की वृत्ति से ऊपर उठ जाता है। वर्तमान युग में मानव जाति में जो मानसिक तनाव दिन–प्रतिदिन बढ़ रहे हैं, उनका कारण राग–द्वेष की वृत्तियों का मनुष्य पर अधिक हावी हो जाना है। वस्तुतः, व्यक्ति की ममता, आसक्ति और तृष्णा ही इन तनावों की मूल जड़ है और महावीर इनसे ऊपर उठने की बात कहकर मनुष्य को तनावों से मुक्त करने का उपाय सुझाते हैं। आचारांग में वे कहते हैं कि जितना, जितना ममत्व है, उतना–उतना दुःख और जितना–जितना निर्ममत्व है, उतना ही सुख है। उनके अनुसार, सुख और दुःख वस्तुगत नहीं, आत्मगत हैं। वे हमारी मानसिकता पर निर्भर करते हैं। यदि हमारा मन अशान्त है, तो फिर बाहर से सुख–सुविधा का अंबार भी हमें सुखी नहीं कर सकता है।

2. सामाजिक एवं जातीय संघर्ष

सामाजिक और जातीय संघर्षों के मूल में जो प्रमुख कारण रहे हैं– वह यह कि व्यक्ति अपने अन्तस् में निहित ममत्व व राग–भाव के कारण मेरे परिजन, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र–ऐसे संकुचित विचार विकसित कर अपने 'स्व' को संकुचित कर लेता है। परिणामस्वरूप, अपने और पराये का भाव उत्पन्न होता है, फलतः भाई–भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि का जन्म होता है। आज मनुष्य–मनुष्य के बीच सुमधुर सम्बन्धों के स्थापित होने में यही विचार सबसे अधिक बाधक है। हम अपनी रागात्मकता

के कारण अपने 'स्व' की संकुचित सीमा बनाकर मानव समाज को छोटे-छोटे घेरों में विभाजित कर देते हैं, फलतः मेरे और पराये का भाव उत्पन्न होता है और यही आगे चलकर सामाजिक संघर्षों का कारण बनता है। भगवान् महावीर का सन्देश था कि सम्पूर्ण मानव जाति एक है (एगा मणुस्सजाई); उसे जाति, वर्ण अथवा राष्ट्र के नाम पर विभाजित करना, यह मानवता के प्रति सबसे बड़ा अपराध है। महावीर के अनुसार सम्पूर्ण मानव जाति को एक और प्रत्येक मानव को अपने समान बनाकर ही हम अपने द्वारा बनाये गए क्षुद्र घेरों से ऊपर उठ सकते हैं और तभी मानवता का कल्याण सम्भव होगा।

भारत में आज जो जातिगत संघर्ष चल रहे हैं, उसके पीछे मूलतः जातिगत ममत्व एवं अहंकार की भावना ही कार्य कर रही है। महावीर का कहना था कि जाति या कुल का अहंकार मानवता का सबसे बड़ा शत्रु है। किसी जाति या कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति महान् नहीं होता है, अपितु वह महान् बनता है-सदाचार से। भगवान् महावीर ने जाति के नाम पर मानव समाज के विभाजन को और ब्राह्मण आदि किसी वर्ग विशेष की श्रेष्ठता के दावे को कभी स्वीकार नहीं किया। उनके धर्म-संघ में हरिकेशी जैसे चाण्डाल, शकडाल जैसे कुम्भकार, अर्जुन जैसे माली और सुदर्शन जैसे वणिक् सभी समान स्थान पाते थे। वे कहते थे कि चाण्डाल कुल में जन्म लेने वाले इस हरिकेशी बल को देखो, जिसने अपनी साधना से महानता अर्जित की है। वे कहते थे, जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता है। इस प्रकार, महावीर ने जातिगत आधार पर मानवता के विभाजन को एवं जातीय अहंकार को निंदनीय मानकर सामाजिक समता एवं मानवता के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

3. वैचारिक संघर्ष

आज मानव समाज में वैचारिक संघर्ष, राजनीतिक पार्टियों के संघर्ष और धार्मिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर हैं। आज धर्म के नाम पर मनुष्य एक दूसरे के खून का प्यासा है। महावीर की दृष्टि में इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हम अपने ही धर्म, सम्प्रदाय या राजनीतिक मतवाद को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और दूसरों के मत या मन्तव्यों की आलोचना करते हैं। महावीर का कहना था कि दूसरे धर्म, सम्प्रदाय या मतवाद को पूर्णतः मिथ्या कहना -यही हमारी सबसे बड़ी भूल है। वे कहते हैं कि जो लोग अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मतों की निन्दा करते हैं, वे सत्य को ही विद्रूपित करते हैं। महावीर

की दृष्टि में सत्य का सूर्य सर्वत्र प्रकाशित हो सकता है, अतः हमें यह अधिकार नहीं कि हम दूसरों को मिथ्या कहें। दूसरों के विचारों, मतवादों या सिद्धान्तों का समादर करना महावीर के चिन्तन की सबसे बड़ी विशेषता रही है। वे कहते थे कि दूसरों को मिथ्या कहना–यही सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। भगवान् महावीर ने जिस अनेकान्तवाद की स्थापना की उसका मूल उद्देश्य विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और मतवादों के बीच समन्वय और सद्भाव स्थापित करना है। उनके अनुसार, हमारी आग्रहपूर्ण दृष्टि ही हमें सत्य को देख पाने में असमर्थ बना देती है। महावीर की शिक्षा आग्रह की नहीं, अनाग्रह की है। जब तक दुराग्रह रूपी रंगीन चश्मों से हमारी चेतना आवृत्त रहेगी, हम सत्य को नहीं देख सकेंगे। वे कहते थे कि सत्य, सत्य होता है, उसे मेरे और पराये के घेरे में बाँधना ही उचित नहीं है। सत्य जहाँ भी हो, उसका आदर करना चाहिए। महावीर के इस सिद्धान्त का प्रभाव परवर्ती जैनाचार्यों पर भी पड़ा है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि व्यक्ति चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य धर्मावलंबी, यदि वह समभाव की साधना करेगा; राग, आसक्ति या तृष्णा के घेरे से उठेगा, तो अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त करेगा। अपने ही धर्मवाद से मुक्ति मानना– यही धार्मिक सद्भाव में सबसे बड़ी बाधा है। महावीर का सबसे बड़ा अवदान है कि उन्होंने हमें आग्रह मुक्त होकर सत्य देखने की दृष्टि दी और इस प्रकार मानवता को धर्मों, मतवादों के संघर्षों से ऊपर उठना सिखाया।

4. आर्थिक संघर्ष

आज विश्व में जब कभी युद्ध और संघर्ष के बादल मंडराते हैं, तो उनके पीछे कहीं न कहीं कोई आर्थिक स्वार्थ होते हैं। आज का युग अर्थप्रधान युग है। मनुष्य में निहित संग्रह–वृत्ति और भोग–भावना अपनी चरम सीमा पर है। वस्तुतः, हम अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर दूसरों की पीड़ाओं को जानना ही नहीं चाहते। अपनी संग्रह–वृत्ति के कारण हम समाज में एक कृत्रिम अभाव उत्पन्न करते हैं। जब एक ओर संग्रह के द्वारा सम्पत्ति के पर्वत खड़े होते हैं, तो दूसरी ओर स्वाभाविक रूप से खाइयाँ बनती हैं, फलतः समाज धनी और निर्धन, शोषक और शोषित– ऐसे दो वर्गों में बँट जाता है और कालान्तर में इनके बीच वर्ग–संघर्ष प्रारम्भ होते हैं। इस प्रकार, समाज व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जाती है। समाज में जो भी आर्थिक विषमताएँ हैं, उसके पीछे महावीर की दृष्टि में परिग्रह वृत्ति ही मुख्य है। यदि समाज से आर्थिक संघर्ष समाप्त करना है, तो हमें मनुष्य की संग्रह वृत्ति

और भोगवृत्ति पर अंकुश लाना होगा। महावीर ने इसके लिए अपरिग्रह, परिग्रह–परिमाण और उपभोग–परिभोग परिमाण के व्रत प्रस्तुत किये। उन्होंने बताया कि मुनि को सर्वथा अपरिग्रही होना चाहिये, साथ ही गृहस्थ को भी अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करना चाहिए, उसकी एक सीमा रेखा बना लेनी चाहिये।

इसी प्रकार उन्होंने वर्त्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति के विरोध में मनुष्य को यह समझाया था कि वह अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को सीमित करे। महावीर कहते थे कि मनुष्य को जीवन जीने का अधिकार तो है, किन्तु दूसरों को सुख–सुविधाओं से वंचित करने का अधिकार नहीं है। उन्होंने व्यक्ति को खान–पान आदि वृत्तियों पर संयम रखने का उपदेश दिया था। यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि भगवान् महावीर ने आज से 2500 वर्ष पूर्व अपने गृहस्थ उपासकों को यह निर्देश दिया था कि वे अपने खान–पान की वस्तुओं की सीमा निश्चित कर लें। जैन आगमों में इस बात का विस्तृत विवरण है कि गृहस्थ को अपनी आवश्यकता की किन–किन वस्तुओं की मात्रा निर्धारित कर लेनी चाहिए। अभी विस्तार से चर्चा में जाना सम्भव नहीं है, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर ने मनुष्य की संचय–वृत्ति पर संयम रखने का उपदेश देकर मानव जाति के आर्थिक संघर्षों के निराकरण का एक मार्ग प्रशस्त किया। वस्तुतः, भगवान महावीर ने वृत्ति में अनासक्ति, विचारों में अनेकान्त व्यवहार में अहिंसा, आर्थिक जीवन में अपरिग्रह और उपभोग में संयम के सिद्धान्त के रूप में मानवता के कल्याण का जो मार्ग प्रस्तुत किया था, वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना की आज से 2500 वर्ष पूर्व था। आज भी अहिंसा, अनेकान्त, और अपरिग्रह की यह त्रिवेणी मानव जाति के कल्मषों को धो डालने में उतनी ही उपयोगी हैं, जितनी महावीर के युग में थी।

आज मात्र वैयक्तिक स्तर पर ही नहीं, सामाजिक स्तर पर भी अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह की साधना करनी होगी, तभी हम एक समतामूलक समाज की रचना कर मानव जाति को संत्रासों से मुक्ति दिला सकेंगे और यही महावीर के प्रति हमारी सची श्रद्धांजलि होगी।

***

7

महावीर स्वामी का दर्शन, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में

यदि हम निवर्त्तक जैन धारा की सामाजिक सार्थकता एवं प्रासंगिकता की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इसमें सामाजिक दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया, यह माना जाता है कि निवृत्ति प्रधान दर्शन व्यक्ति–परक और प्रवृत्ति प्रधान दर्शन समाज–परक होते हैं। प्रवर्त्तक धर्म समाज–गामी है, इसका मतलब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर (उन) सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करे, जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, जबकि निवर्त्तक धर्म व्यक्तिगामी है, (वह) सामाजिक कर्त्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं कहता है। उसके अनुसार, व्यक्ति के लिए मुख्य कर्त्तव्य एक ही है, वह यह कि जिस तरह भी हो आत्म–साक्षात्कार करे और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निवर्त्तक जैनधारा असामाजिक है या उसमें सामाजिक सन्दर्भ का अभाव है, नितान्त भ्रम होगा। उसमें भी सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती। वह इतना तो अवश्य मानती है कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो, किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जीवनपर्यन्त लोकमंगल के लिए कार्य करते रहे। यद्यपि निवृत्तिप्रधान जैनधर्म में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। उसमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज–रचना एवं सामाजिक दायित्वों के पालन की अपेक्षा समाज–जीन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल

दिया गया है। जैन दर्शन के पंच महाव्रतों का सम्बन्ध अनिवार्यतः हमारे सामाजिक जीवन से ही है। प्रश्नव्याकरणसूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। पाँचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए ही हैं, प्रश्नव्याकरण (1/1/21-22)। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह)-ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से सम्बन्धित हैं। हिंसा का अर्थ है- किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है- किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है-किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है- सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है-समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या सन्दर्भ रह जाता है? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादाएँ जैन दर्शनों में दी हैं, वे हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही हैं।

जैन साधना पद्धति को मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ की भावनाओं के आधार पर भी उसके सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य अमितगति कहते हैं -

सत्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम्।
मध्यस्थ-भावं विपरीत वृत्तौ, सदाममात्मा विदधातु देव।।- सामयिक पाठ

हे प्रभु! हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करुणा तथा दुष्टजनों के प्रति माध्यस्थ भाव विद्यमान रहे। इस प्रकार, इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों, इसे स्पष्ट किया गया है। समाज में दूसरे लोगों के साथ हम किस प्रकार जीवन जियें, यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है। जैन धर्म ने व्यक्ति को समाज-जीवन से जोड़ने का ही प्रयास किया है। जैनधर्म का हृदय रिक्त नहीं है। तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोये खेयन्ने पव्वहये)। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं, 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव'- हे प्रभु! आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण, सर्वोदय करने वाला है। उसमें प्रेम और करुणा की अटूट धारा बह रही है। जैन आगमों में प्रस्तुत कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म एवं राष्ट्रधर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के संबंध में उसका योगदान महत्वपूर्ण है।

वस्तुतः, जैन दर्शन ने आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज–सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। उसने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके चरित्र निर्माण पर बल दिया। वस्तुतः, महावीर के युग तक समाज–रचना का कार्य पूरा हो चुका था, अतः उन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक जीवन की बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया।

सम्भवतः, जैन दर्शन को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है, उनमें प्रमुख हैं – राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्तिमार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय। ये ही ऐसे तत्त्व हैं, जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं, अतः इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध है और जब सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है, जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से सम्बन्ध टूट जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध बन ही नहीं पाते हैं। सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग–भावना ही काम करती है। सामान्यतया, राग द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग–द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं, तो इन सम्बन्धों के द्वारा टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं–

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके, यावन्ति दुःखानि भयानि चैव।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण।।
आत्मानपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते।।

–बोधिचर्यावतार–8/134–135

संसार के सभी दुःख और भय एवं तद्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक इन दुःखों की समाप्ति संभव नहीं है, जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तद्जन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र–ये विचार विकसित होते हैं और इसके परिणामस्वरूप भाई–भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। ये ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। जैन दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होता है, वह सब पर नहीं हो सकता है, अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है, उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का 'ममत्व', चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ–भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति, चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार या जाति का ममत्व हमारी राष्ट्रीय एकता में बाधक है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता का ममत्व हमारी वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा में बाधक है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि व्यक्ति जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता, तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। चूंकि समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है, अतः वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और

सम्पूर्ण मानव जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। जैन दर्शन में राग के साथ-साथ मान (अहंकार) के प्रत्यय के विगलन पर भी समान रूप से बल दिया गया है। अहंकार भाव भी हमारे सामाजिक सम्बन्धों में बाधा ही उत्पन्न करता है। शासन करने की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं और इनके कारण सामाजिक जीवन में विषमता एवं टकराहट उत्पन्न होती है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें, तो उसके मूल में हमारी आसक्ति, रागात्मकता या अहं ही प्रमुख हैं। आसक्ति, ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में संग्रह, आवेश और कपटाचार के तत्त्व जन्म लेते हैं। संग्रह की मनावृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण व्यवहार एवं विश्वासघात के तत्त्व विकसित होते हैं। इसी प्रकार, आवेश की मनोवृत्ति के कारण क्रूर व्यवहार, संघर्ष, युद्ध एवं हत्याएँ होती हैं। इसी तरह कपट की मनोवृत्ति अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार को जन्म देती है। अतः, यह कहना उचित ही होगा कि भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक समत्व की स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है; यह भारतीय चिन्तन का महत्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुतः, आसक्ति या राग तत्त्व की उपस्थिति में सच्चा लोकहित भी फलित नहीं होता है। आसक्ति या कर्मफल की अपेक्षा के साथ किया गया कोई भी लोकहित का कार्य स्वार्थपरता से शून्य नहीं होता है। जिस प्रकार शासन की ओर से नियुक्त समाज-कल्याण अधिकारी लोकहित को करते हुए भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ करता है, वह केवल अपने वेतन के लिए करता है, इस प्रकार आसक्ति या राग भावना से युक्त व्यक्ति चाहे, बाहर से लोकहित का कर्त्ता दिखाई दे, किन्तु वह सच्चे अर्थ में लोकहित का कर्त्ता नहीं है। अतः, जैन दर्शन ने आसक्ति से या राग से ऊपर उठकर लोकहित करने के लिए एक यथार्थ भूमिका प्रदान की, सराग लोकहित या फलासक्ति से युक्त लोकहित छद्म स्वार्थ ही है। अतः, भारतीय दर्शन में अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ बल दिया है, वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

सामान्यतया, जैन दर्शन के संन्यास के प्रत्यय को समाज निरपेक्ष माना जाता है, किन्तु क्या संन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष है? निश्चय ही संन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है, किन्तु इससे क्या वह असामाजिक हो जाता है? संन्यास के

संकल्प में वह समता (सामयिक) को स्वीकार करता है और ममता का परित्याग करता है, किन्तु क्या धन–सम्पदा, संतान, परिवार आदि के प्रति ममता का परित्याग समाज का परित्याग है? वस्तुतः, समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है। संन्यासी का वह संकल्प उसे समाज–विमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज–कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है, क्योंकि सच्चा लोकहित निःस्वार्थता एवं वीतरागता की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म संन्यास को समाज–निरपेक्ष नहीं मानता है। भगवान् बुद्ध का यह आदेश– 'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देव मनुस्सानं (विनयपिटक, महावग्ग), लोकमंगल को संन्यासी का सर्वोपरि कर्त्तव्य बताता है।' अतः, हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है, वह सामाजिकता विरोधी नहीं है। संन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता है, जो आदर्श समाज रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे–

मोक्ष प्रत्यय – राग–द्वेष सामाजिक जीवन के लिए बाधक है। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है, तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है, अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है, इसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्य है। जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं –

देहस्य मोक्षो न मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्या हृदय ग्रन्थि मोक्षो यतस्ततः।।

–विवेकचूड़ामणि, 559

वस्तुतः, मुक्ति का अर्थ है– राग–द्वेष, तृष्णा, कषाय आदि विकारों से मुक्ति। मरणोत्तर मोक्ष या विदेह–मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है, साध्य तो है– वीतरागता। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है, उसी प्रकार विदेह–मुक्ति तो जीवन–मुक्ति या वीतरागता का अनिवार्य परिणाम है, अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है, वह तो वीतरागता ही है। जीवन मुक्ति या वीतराग दशा के प्रत्यक्ष की सामाजिक सार्थकता से हम इन्कार भी नहीं कर सकते,

क्योंकि जीवन मुक्त तीर्थंकर एक ऐसा व्यक्तित्व है, जो सदैव लोक कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध दर्शन में अर्हत् एवं बोधिसत्व की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोकमंगल और मानव कल्याण का एक महान् आदर्श माना जा सकता है, क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है। मात्र इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध दर्शन में भी बोधिसत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है।

बोधिसत्व और तीर्थंकर सदैव ही दीन और दुःखीजनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वस्तुतः, मोक्ष अकेला पाने की वस्तु नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे के उद्‌गार विचारणीय हैं-'जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है। 'मैं' के आते ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष- यह वाक्य ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।' (आत्मज्ञान और विज्ञान, पृष्ठ 71)। इसी प्रकार, वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है, 'मैं' अथवा 'अहं' भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आप को समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। इस प्रकार, यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दुःख मानवीय संवेगों के कारण ही हैं, अतः मुक्ति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि संवेगों से मुक्ति है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक- दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक क्लेश से मुक्ति रूप में मोक्ष की उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। अन्त में, हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है-

सर्वे सुखिनः संतु। सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु। मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्।।

***

8 महावीर का श्रावक वर्ग, तब और अब : एक आत्मविश्लेषण

प्रस्तुत आलेख में हमारा प्रतिपाद्य भगवान् महावीर की श्रावक संस्था की वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करना है।

जैन धर्म निवृत्तिपरक धर्म है। संन्यास की अवधारणा निवृत्तिपरक धर्मों का हार्द है। इस आधार पर सामान्यतया यह माना जाता रहा है कि निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा में गृहस्थ का वह स्थान नहीं रहा, जो कि प्रवृर्त्तिमार्गी हिन्दू परम्परा में उसे प्राप्त था। प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों का आधार माना गया था। यद्यपि श्रमण परम्परा में संन्यास धर्म की प्रमुखता रही, किन्तु यह समझ लेना भ्रांतिपूर्ण होगा कि उसमें गृहस्थ धर्म उपेक्षित रहा। वे श्रमण परम्पराएँ, जो संघीय व्यवस्था को लेकर विकसित हुईं, उनमें गृहस्थ या उपासक वर्ग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। भारतीय श्रमण परम्परा में जैन, बौद्ध आदि ऐसी परम्पराएँ थीं, जिन्होंने संघीय साधना को महत्त्व दिया। भगवान् महावीर ने अपनी तीर्थस्थापना में श्रमण, श्रामणी, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की। भगवान् महावीर की परम्परा में ये चारों ही धर्मसंघ के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने अपनी संघ व्यवस्था में गृहस्थ उपासक एवं उपासिकाओं को स्थान देकर, उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। महावीर की संघ व्यवस्था साधना के क्षेत्र में स्त्री वर्ग और गृहस्थ वर्ग– दोनों के महत्त्व को स्वीकार करती है। उन्होंने सूत्रकृतांग (2/2/39) में स्पष्ट रूप से यह कहा था कि अणुव्रत के रूप में अहिंसा का पालन करने वाला गृहस्थ धर्म भी आर्य है और समस्त दुःखों का अन्त करने वाला पूर्णतया सम्यक् और साधु है।

उत्तराध्ययसूत्र में कहा गया है कि चाहे सामान्य रूप से गृहस्थों की अपेक्षा श्रमण को श्रेष्ठ माना जाए, किन्तु कुछ गृहस्थ ऐसे भी होते हैं, जो श्रमणों की अपेक्षा संयम के परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं। महावीर के शासन में महत्त्व वेश का नहीं है, आध्यात्मिक निष्ठा का है। आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में श्रेष्ठता और निम्नता का आधार आध्यात्मिक जागरूकता, अप्रमत्तता, अनासक्ति और निराकुलता है। जिसका चित्त निराकुल और शान्त है, जो अपने कर्त्तव्यपथ पर पूरी ईमानदारी के साथ चल रहा है, जिसकी अन्तरात्मा निर्मल और विशुद्ध है, वह महावीर के मुक्ति पथ पर चलने का अधिकारी है।

भगवान् महावीर ने अपने धर्म–मार्ग में साधना एवं संघ व्यवस्था की दृष्टि से गृहस्थ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। यदि मध्यवर्ती युगों को देखें, तो भी यह बात अधिक सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि मध्ययुग में भी जैन धर्म और संस्कृति को सुरक्षित रखने में गृहस्थ वर्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने न केवल भव्य जिनालय बनवाये और ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाकर साहित्य की सुरक्षा की, अपितु अपने त्याग से संघ और समाज की सेवा भी की। यदि हम वर्त्तमान काल में जैनधर्म में गृहस्थ वर्ग के स्थान और महत्त्व के संबंध में विचार करें, तो आज भी ऐसा लगता है कि जैनधर्म के संरक्षण और विकास में गृहस्थ वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण भारत में एक प्रतिशत जनसंख्या वाला यह समाज सेवा और प्राणी–सेवा के क्षेत्र में आज भी अग्रणी स्थान रखता है। देश में जनता के द्वारा संचालित जनकल्याणकारी संस्थाओं अर्थात् विद्यालय, महाविद्यालय, चिकित्सालय, गौशालाएं, पांजरापोल, अल्पमूल्य की भोजनशालाओं आदि की परिगणना करें, तो यह स्पष्ट है कि देश में लगभग 30 प्रतिशत लोकसेवी संस्थाएं जैन समाज के द्वारा संचालित हैं। एक प्रतिशत की जनसंख्या वाला समाज यदि 30 प्रतिशत की भागीदारी देता है, तो उसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। एक दृष्टि से देखें, तो महावीर के युग से लेकर आज तक जैनधर्म, जैन समाज और जैन संस्कृति के संरक्षण का महत्त्वपूर्ण दायित्व श्रावक वर्ग ने ही निभाया है, चाहे उसे प्रेरणा और दिशाबोध श्रमणों से प्राप्त हुआ हो। इस प्रकार, सामान्य दृष्टि से देखने पर महावीर के युग और आज के युग में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता।

किन्तु, जहाँ चारित्रिक निष्ठा के साथ सदाचारपूर्वक नैतिक आचार का प्रश्न है, आज स्थिति कुछ बदली हुई प्रतीत होती है। महावीर के युग में गृहस्थ साधकों के धनबल और सत्ताबल की अपेक्षा चारित्रबल को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। स्वयं भगवान् महावीर ने मगध सम्राट श्रेणिक को पुनियां श्रावक के पास भेजकर धनबल और सत्ताबल पर चारित्रबल की महत्ता का आदर्श उपस्थित किया था। साधना के क्षेत्र में धनबल और सत्ताबल की अपेक्षा चारित्रबल प्रधान है। अपने प्रधान शिष्य और 14,000 निर्ग्रंथ भिक्षुओं

के अग्रणी आर्य इन्द्रभूति गौतम को समाधिमरण की साधना में रत आनन्द श्रावक के पास क्षमायाचना के लिए भेजकर महावीर ने जहां एक ओर गृहस्थ के चारित्रबल की महत्ता को प्रतिपादित किया था, वहीं श्रावक के जीवन की गरिमा को भी स्थापित किया था। वर्त्तमान संघीय व्यवस्था में गृहस्थ वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान तो स्वीकार किया जाता है, किन्तु इन बदली हुई परिस्थितियों में चारित्रबल की अपेक्षा गृहस्थ का धनबल और सत्ताबल ही प्रमुख बन गया है। समाज में न तो आज चारित्रवान् श्रावक साधकों और न ही विद्वत् वर्ग का ही कोई महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज जैनधर्म की सभी शाखाओं में समाज पर, (समाज पर ही क्या कहें) मुनिवर्ग पर भी धनबल और सत्ताबल का प्राधान्य है। महावीर के युग में और मध्यकाल में भी उन्हीं श्रावकों का समाज पर वर्चस्व था, जो संघीय हित के लिए तन-मन-धन से समर्पित होते थे, फिर वे चाहे सम्पत्तिशाली हों या आर्थिक अपेक्षा से निर्धन ही क्यों न हों। आज हम यह देखते हैं कि समाज के शीर्ष स्थानों पर वे ही लोग बैठे हुए हैं, जिनकी चारित्रिक निष्ठा पर अनेक प्रश्नचिह्न लगे हुए हैं।

सामान्यतया, आज यह समझा जाता है कि मुनिजीवन की साधना गृहस्थ जीवन की साधना की अपेक्षा अधिक दुःसाध्य है, किन्तु मेरा ऐसा मानना है कि साधना के क्षेत्र में श्रेष्ठता का आधार मुनिवेश या गृहस्थ वेश नहीं है। जैन धर्म की सम्पूर्ण साधना का हार्द ममत्व का त्याग कर समता या वीतरागता की साधना है। वह इन्द्रियों की विषय-वासना की मांग पर संयम के विजय की साधना है। संन्यास मार्ग की साधना कठोर होते हुए भी सुसाध्य है, जबकि गृहस्थ धर्म की साधना सुसाध्य प्रतीत होते हुए भी दुःसाध्य है। चित्त विचलन के जो अवसर गृहस्थ जीवन में रहे हुए हैं, उनकी अपेक्षा मुनि जीवन में वे अत्यन्त अल्प हैं। गिरि कंदराओं में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन उतना कठिन नहीं है जितना नारियों के मध्य रहकर उसका पालन करना है। क्या विजय सेठ और सेठानी के अथवा कोशा वैश्या के घर में चातुर्मास में स्थित स्थूलिभद्र के कठोर ब्रह्मचर्य की साधना की तुलना किसी अन्य मुनि के ब्रह्मचर्य की साधना से की जा सकती है? गृहस्थ धर्म से आध्यात्मिक विकास की ओर जाने वाला मार्ग फिसलन भरा है, उसमें कदम-कदम पर सजगता की आवश्यकता है। साधक यदि एक क्षण के लिए भी वासनाओं के आवेग में भटका, तो उसका पतन हो सकता है। वासनाओं के बवंडर के मध्य रहते हुए उनसे अप्रभावित रहना सरल नहीं है। गृहस्थ जीवन में आध्यात्मिक साधना काजल की कोठरी में रहकर भी चारित्ररूपी चादर को बेदाग रखना है। मेरे यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं मुनि जीवन की महत्ता और गरिमा को नकार रहा हूँ। एक मुनि जिन आध्यात्मिक ऊँचाइयों को छूता है, यदि कोई गृहस्थ जीवन में रहकर भी उन ऊँचाइयों को छू ले, तो वह अधिक

महत्त्वपूर्ण होता है। वैसे तो हर युग के अन्दर इस प्रकार के गृहस्थ साधक रहे हैं, जिन्होंने अपनी चारित्रिक साधना के उच्चतम आदर्श उपस्थित किये हैं। वर्त्तमान युग में भी ऐसे कुछ साधक हैं, जिनका चारित्रबल किसी अपेक्षा से सामान्य मुनियों से भी श्रेष्ठ रहा है, फिर भी यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें, तो ऐसा लगता है कि महावीर के युग की अपेक्षा आज इस प्रकार के आत्मनिष्ठ गृहस्थ साधकों की संख्या में कमी आयी है। यदि हम महावीर के युग की बात करते हैं, तो वह बहुत पुरानी हो गई। यदि निकटभूत अर्थात् उन्नीसवीं शती की बात को ही लें, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल के जो समाज-आधारित आपराधिक आंकड़े हमें उपलब्ध होते हैं, यदि उनका विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट लगता है कि उस युग में जैनों में आपराधिक प्रवृत्ति का प्रतिशत लगभग शून्य था। यदि हम आज की स्थिति देखें, तो छोटे-मोटे अपराधों की बात एक ओर रख दें और देश के महाअपराधों की सूची पर दृष्टि डालें, तो चाहे घी में चर्बी मिलाने का काण्ड हो, चाहे अलकबीर के कत्लखाने में तथाकथित जैन भागीदारी का प्रश्न हो, अथवा बड़े-बड़े हवाला जैसे आर्थिक घोटाले हों, हमारी साख कहीं न कहीं गिरी है। एक शताब्दी पूर्व तक सामान्य जनधारणा यह थी कि आपराधिक प्रवृत्तियों का जैन समाज से कोई नाता-रिश्ता नहीं है, लेकिन आज की स्थिति यह है कि आपराधिक प्रवृत्तियों के सरगनाओं में जैन समाज के लोगों के नाम आने लगे हैं। इससे ऐसा लगता है कि वर्त्तमान युग में हमारी ईमानदारी और प्रामाणिकता पर अनेक प्रश्न चिह्न लग चुके हैं। तब की अपेक्षा अब अणुव्रतों के पालन की आवश्यकता कहीं अधिक है।

एक युग था, जब श्रावक से तात्पर्य था-व्रती श्रावक। तीर्थंकरों के युग में जो हमें श्रावकों की संख्या उपलब्ध होती है, वह संख्या श्रद्धाशील श्रावकों की नहीं, बल्कि व्रती श्रावकों की है, किन्तु आज स्थिति बिल्कुल बदलती हुई नजर आती है। यदि आज हम श्रावक का तात्पर्य ईमानदारी एवं निष्ठापूर्वक श्रावक व्रतों के पालन करने वालों से लें, तो हम पायेंगे कि उनकी संख्या हमारे श्रमण और श्रमणी वर्ग की अपेक्षा कम ही होगी। यद्यपि यहाँ कोई कह सकता है कि व्रत ग्रहण करने वालों के आँकड़े तो कहीं अधिक हैं, किन्तु मेरा तात्पर्य मात्र व्रत ग्रहण करने से नहीं, किन्तु उसका परिपालन कितनी ईमानदारी और निष्ठा से हो रहा है,इस मुख्य वस्तु से है। महावीर ने गृहस्थ वर्ग को श्रमणसंघ के प्रहरी के रूप में उद्घोषित किया था। उसे श्रमण के माता-पिता के रूप में स्थापित किया गया था। यदि हम सुदूर अतीत में न जाकर केवल अपने निकट अतीत को ही देखें, तो यह स्पष्ट है कि आज गृहस्थ न केवल अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को भूल बैठा है, बल्कि वह अपनी अस्मिता को भी खो बैठा है। आज यह समझा जाने लगा है कि धर्म और संस्कृति का

संरक्षण तथा आध्यात्मिक साधना, सब कुछ श्रमण संस्था का कार्य है, गृहस्थ तो मात्र उपासक हैं। उनके कर्त्तव्यों की इतिश्री साधु-साध्वियों को दान देने अथवा उनके द्वारा निर्देशित संस्था को दान देने तक सीमित है। आज हमें इस बात को अनुभूत करना होगा कि जैन धर्म की संघ व्यवस्था में हमारा क्या और कितना गरिमामय स्थान है। चतुर्विध संघ के चार पायों में यदि एक भी पाया चरमराता या टूटता है, तो दूसरे का अस्तित्व भी निरापद नहीं रह सकता है। यदि श्रावक अपने दायित्व और कर्त्तव्य को विस्मृत करता है, तो संघ के अन्य घटकों का अस्तित्व भी निरापद नहीं रह सकता। चाहे यह बात कहने में कठोर हो, लेकिन यह एक स्पष्ट सत्य है कि आज का हमारा श्रमण और श्रमणी वर्ग शिथिलाचार में आकण्ठ डूबता जा रहा है। यहाँ मैं किसी सम्प्रदाय विशेष की बात नहीं कर रहा हूँ और न मेरा यह आक्षेप उन पूज्य मुनिवृंदों के प्रति है, जो निष्ठापूर्वक अपने चारित्र का पालन करते हैं, यहाँ मेरा इशारा एक सामान्य स्थिति से है।

अन्य वर्गों की अपेक्षा जैन श्रमण संस्था एक आदर्श रूप प्रतीत होती है, फिर भी यदि हम उसके अंतस्थल में झांककर देखते हैं, तो कहीं न कहीं हमें हमारे आदर्श और निष्ठा को ठेस अवश्य लगती है। आज जिन्हें हम आदर्श और वंदनीय मान रहे हैं, उनके जीवन में छल-छद्म, दुराग्रह और अहम् के पोषण की प्रवृत्तियाँ तथा वासना-जीवन के प्रति ललक को देखकर मन पीड़ा से भर उठता है, किन्तु उनके इस पतन का उत्तरदायी कौन है? क्या वे स्वयं ही हैं? वास्तविकता यह है कि उनके इस पतन का उत्तरदायित्व हमारे श्रावक वर्ग पर भी है, या तो हमने उन्हें इस पतन के मार्ग की ओर अग्रसर किया है, या कम से कम इसमें सहयोगी बने हैं। साधु-साध्वियों में शिथिलाचार, संस्थाओं के निर्माण की प्रतिस्पर्धा और मठवासी प्रवृत्तियाँ आज जिस तेजी से बढ़ रही हैं, वह मध्यकालीन चैत्यवासी और भट्टारक परम्परा, जिसकी हम आलोचना करते नहीं अघाते, उनसे भी कहीं आगे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साधु-साध्वियों में जो शिथिलाचार बढ़ा है, वह हमारे सहयोग से ही बढ़ा है। आज श्रावक, उनमें भी विशेष रूप से सम्पन्न श्रावक, धर्म के नाम पर होने वाले बाह्य आडम्बरों में अधिक रुचि ले रहा है। आध्यात्मिक साधना के स्थान पर वह प्रदर्शनप्रिय हो रहा है। धर्म प्रभावना का नाम लेकर आज के तथाकथित श्रावक और उनके तथाकथित गुरुजन-दोनों ही अपने अहम् और स्वार्थों के पोषण में लगे हैं। आज धर्म की खोज अन्तरात्मा में नहीं, भीड़ में हो रही है। हम भीड़ में रहकर अकेले रहना नहीं जानते, अपितु कहीं अपने अस्तित्व और अस्मिता को भी भीड़ में ही विसर्जित कर रहे हैं। आज वही साधु और श्रावक अधिक प्रतिष्ठित होता है, जो भीड़ इकट्ठा कर सकता है। बात कठोर है, किन्तु सत्य है। आज मजमा जमाने में जो जितना कुशल होता है, वह उतना ही अधिक

प्रतिष्ठित भी होता है।

आज सेवा की अपेक्षा सेवा का प्रदर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है। मैं पश्चिम के लायन्स और रोटरी क्लबों की बात नहीं करता, किन्तु आज के जैन समाज के विकसित होने वाले सोशल ग्रुप की बात करना चाहता हूँ। हम अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछें कि क्या वहाँ सेवा के स्थान पर सेवा का प्रदर्शन अधिक नहीं हो रहा है? मेरे इस आक्षेप का यह आशय नहीं कि सोशल ग्रुप जैसी संस्थाओं का मैं आलोचक हूँ, वास्तविकता तो यह है कि यदि आज समाज, संस्कृति और धर्म को बचाए रखना है, तो ऐसी संस्थाओं की नितान्त आवश्यकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि आज एक मंदिर, उपाश्रय या स्थानक कम बने और उसके स्थान पर गाँव-गाँव में जैनों के सोशल क्लब खड़े हों, किन्तु उनमें कहीं हमारे धर्म, दर्शन और संस्कृति का संरक्षण होना चाहिए, आचार की मर्यादाओं का पालन होना चाहिए। आज के युवा में जैन संस्कारों के बीजों का वपन हो और वे विकसित हों, इसलिए ऐसे सामाजिक संगठन आवश्यक हैं, किन्तु यदि उनमें पश्चिम की अंधी नकल से हमारे सांस्कृतिक मूल्य और सांस्कृतिक विरासत समाप्त होते हैं, तो उनकी उपादेयता भी समाप्त हो जाएगी।

आज के युग में संचार के साधनों की वृद्धि हुई है और यह भी आवश्यक है कि हमें इन संचार साधनों का उपयोग भी करना चाहिए, किन्तु इनके उपयोग से जीवन मूल्यों और आदर्शों का प्रसारण होना चाहिए, न कि वैयक्तिक अहम् का पोषण। आज हमारी रुचि उन आदर्शों और मूल्यों की स्थापना में उतनी नहीं होती, जितनी अपने अहम् के सम्पोषण के लिए अपना नाम व फोटो छपा हुआ देखने में होती है। इस युग में साधनाप्रिय साधु और श्रावक तो कहीं ओझल हो गए हैं। यदि उनका जीवन और चारित्रिक मूल्य आगे आए, तो उनसे हमारे जीवन मूल्यों का संरक्षण होगा, अन्यथा केवल प्रदर्शन और अपने अहम् की पुष्टि में हमारी अस्मिता ही समाप्त हो जाएगी। आज न केवल नेताओं के बड़े-बड़े होर्डिंग्स लग रहे हैं, अपितु हमारे साधुओं के भी होर्डिंग्स लग गए हैं। संचार साधनों की सुविधाओं के इस युग में महत्त्व मूल्य और आदर्शों को दिया जाना चाहिए, न कि व्यक्तियों को, क्योंकि उसके निमित्त से आज साधु समाज में एक प्रतिस्पर्धा की भावना भी जन्मी है और उसके परिणामस्वरूप संघ और समाज के धन का कितना अपव्यय हो रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है। यह धन भी साधुवर्ग के पास से नहीं, गृहस्थ वर्ग के पास से ही आता है। आज पूजा, प्रतिष्ठा, दीक्षा, चातुर्मास, आराधना और उपासना की खर्चीली व्यवस्थाएँ बन्द होना चाहिए।

***

9

महावीर के दर्शन में अहिंसा की अवधारणा : एक विश्लेषण

अहिंसा का अर्थ विस्तार एवं उसके विविध आयाम

विश्व के लगभग सभी धर्मों एवं धर्मग्रंथों में किसी न किसी रूप में अहिंसा की अवधारणा पाई जाती है। अहिंसा के सिद्धान्त की इस सार्वभौम स्वीकृति के बावजूद भी अहिंसा के अर्थ को लेकर उन सबमें एकरूपता नहीं है। हिंसा और अहिंसा के बीच खींची गई भेद रेखा सभी में अलग-अलग है। कहीं पशुवध को ही नहीं, नर-बलि को भी हिंसा की कोटि में नहीं माना गया है, तो कहीं वानस्पतिक हिंसा अर्थात् पेड़-पौधों को पीड़ा देना भी हिंसा माना जाता है। चाहे अहिंसा की अवधारणा उन सबमें समान रूप से उपस्थित हो, किन्तु अहिंसक-चेतना का विकास उन सबमें समान रूप से नहीं हुआ है। क्या मूसा के आदेश का वही अर्थ है, जो महावीर की 'सव्वे सत्ता न हंतव्वा' की शिक्षा का है? यद्यपि हमें यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसा के अर्थविकास की यह यात्रा किसी कालक्रम में न होकर मानव-जाति की सामाजिक चेतना, मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो व्यक्ति या समाज जीवन के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना, उसने अहिंसा के प्रत्यय को उतना ही अधिक व्यापक अर्थ प्रदान किया। अहिंसा के अर्थ का यह विस्तार भी तीनों रूपों में हुआ है। एक ओर अहिंसा के अर्थ को व्यापकता दी गई, दूसरी ओर, अहिंसा का विचार अधिक गहन होता चला गया। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारम्भ

षट्जीवनिकाय की हिंसा के निषेध तक इसने अर्थ विस्तार पाया है, तो दूसरी ओर प्राणी वियोजन के बाह्यरूप से द्वेष, दुर्भावना और असावधानी (प्रमाद) के आंतरिक रूप तक इसने गहराइयों में प्रवेश किया है। पुनः, अहिंसा ने 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक अर्थ से लेकर दया, करुणा, दान, सेवा, सहयोग के विधायक अर्थ तक भी अपनी यात्रा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा का अर्थविकास त्रिआयामी (थ्री डायमेंशनल) है, अतः जब भी हम अहिंसा की अवधारणा को लेकर कोई चर्चा करना चाहते हैं, तो हमें उसके सभी पहलुओं की ओर ध्यान देना होगा।

जैनागमों के संदर्भ में अहिंसा के अर्थ की व्याप्ति को लेकर कोई चर्चा करने के पूर्व हमें यह देख लेना होगा कि अहिंसा की इस अवधारणा ने कहां कितना अर्थ पाया है?

यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में अहिंसा का अर्थ विस्तार

मूसा ने धार्मिक जीवन के लिए जो दस आदेश प्रसारित किए थे, उनमें एक है-'तुम हत्या मत करो', किन्तु इस आदेश का अर्थ यहूदी समाज के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपनी जातीय भाई की हिंसा नहीं करने से अधिक नहीं रहा। धर्म के नाम पर तो हम स्वयं पिता को अपने पुत्र की बलि देते हुए देखते हैं। इस्लाम ने चाहे अल्लाह को 'रहिमानुर्रहीम' (करुणाशील) कहकर सम्बोधित किया हो और चाहे यह भी मान लिया हो कि सभी जीवधारियों को जीवन उतना ही प्रिय है, जितना तुम्हें अपना है, किन्तु उसमें अल्लाह की इस करुणा का अर्थ स्वधर्मियों तक ही सीमित रहा। इतर मनुष्यों के प्रति इस्लाम आज तक संवेदनशील नहीं बन सका। पुनः यहूदी और इस्लाम-दोनों ही धर्मों में धर्म के नाम पर पशुबलि को सामान्य रूप से आज तक स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार, इन धर्मों में मनुष्य की संवेदनशीलता स्वजाति और स्वधर्मी अर्थात् अपनों से अधिक अर्थविस्तार नहीं पा सकी है। इस संवेदनशीलता का अधिक विकास हमें ईसाई धर्म में दिखाई देता है। ईसा, शत्रु के प्रति भी करुणाशील होने की बात कहते हैं। वे अहिंसा, करुणा और सेवा के क्षेत्र में अपने और पराए, स्वधर्मी और विधर्मी, शत्रु और मित्र के भेद से ऊपर उठ जाते हैं। इस प्रकार उनकी करुणा सम्पूर्ण मानवता के प्रति बरसी है। यह बात अलग है कि मध्ययुग में ईसाईयों ने धर्म के नाम पर खून की होली खेली हो, और ईश्वर-पुत्र के आदेशों की अवहेलना की हो, किन्तु ऐसा तो हम सभी करते हैं। धर्म के नाम पर पशु बलि की स्वीकृति ईसाई धर्म में भी नहीं देखी जाती है। इस

प्रकार, उसमें अहिंसा की अवधारणा अधिक व्यापक बनी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सेवा तथा सहयोग के मूल्यों के माध्यम से अहिंसा को एक विधायक दिशा भी प्रदान की गई है। फिर भी, सामान्य जीवन में पशुवध और मांसाहार के निषेध की बात वहां नहीं उठाई गई है। अतः उसकी अहिंसा की अवधारणा मानवता तक ही सीमित मानी जा सकती है। वह भी समस्त प्राणी जगत् की पीड़ा के प्रति संवेदनशील नहीं बन सका।

भारतीय चिन्तन में अहिंसा का अर्थ विस्तार

चाहे वेदों में 'पुमांसु परिपातु विश्वतः' अथवा 'मित्रास्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद 36.18) के रूप में सर्व प्राणियों के प्रति मित्रभाव की कामना की गई हो, किन्तु वेदों की यह अहिंसक चेतना मानवजाति तक ही सीमित रही है। मात्र इतना ही नहीं, वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें शत्रु वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएं भी की गई हैं। यज्ञों में पशुबलि स्वीकृत रही, वेद-विहित हिंसा को हिंसा की कोटि में नहीं माना गया। इस प्रकार, उनमें धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा को समर्थन ही दिया गया। वेदों में अहिंसा की अवधारणा का अर्थविस्तार उतना ही है, जितना कि यहूदी और इस्लाम धर्म में। अहिंसक चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है-श्रमण परम्परा में। इसका मुख्य कारण यह था कि गृहस्थ जीवन में रहकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर पाना सम्भव नहीं था। जीवनयापन अर्थात् आहार, सुरक्षा आदि के लिए हिंसा आवश्यक तो है ही, अतः उन सभी धर्म परम्पराओं में, जो मूलतः निवृत्तिपरक या संन्यासमार्गीय नहीं थीं,अहिंसा को उतना अर्थविस्तार प्राप्त नहीं हो सका, जितना श्रमण धारा या संन्यासमार्गीय परम्परा में संभव था। यद्यपि श्रमण परम्पराओं के द्वारा हिंसापरक यज्ञ यागों की आलोचना और मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक परम्परा में भी एक ओर वेदों के पशु हिंसापरक पदों का अर्थ अहिंसक रीति से किया जाने लगा, महाभारत के शांतिपर्व में राजा वसु का आख्यान (अध्याय 337-338) इसका प्रमाण है, तो दूसरी ओर धार्मिक जीवन के लिए कर्मकाण्ड को अनुपयुक्त मानकर औपनिषदिक धारा के रूप में ज्ञानमार्ग का और भागवत धर्म के रूप में भक्तिमार्ग का विकास हुआ। इसमें अहिंसा का अर्थविस्तार सम्पूर्ण प्राणीजगत् अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा के निषेध तक हुआ है। वैदिक परम्परा में संन्यासी को कंदमूल एवं फल

का उपभोग करने की स्वतंत्रता है, इस प्रकार वहाँ वानस्पतिक हिंसा का विचार उपस्थित नहीं है, फिर भी यह तो सत्य है कि अहिंसक चेतना को सर्वाधिक विकसित करने का श्रेय श्रमण परम्पराओं को ही है। भारत में ई.पू. छठवीं शताब्दी का जो भी इतिवृत्त हमें प्राप्त होता है, उससे ऐसा लगता है कि उस युग में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने में श्रमण सम्प्रदायों में होड़ लगी हुई थी। कम से कम हिंसा ही श्रामण्य जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिमान था। सूत्रकृतांग में आर्द्रककुमार की विभिन्न मत वाले श्रमणों से जो चर्चा है उसमें मूल प्रश्न यही है कि कौन सबसे अधिक अहिंसक है (देखिए, सूत्रकृतांग 2/6)। त्रस प्राणियों (पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि) की हिंसा तो हिंसा थी ही,किन्तु वानस्पतिक और सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा को भी हिंसा माना जाने लगा। मात्र इतना ही नहीं, मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित और अनुमोदित के प्रकारभेदों से नवकोटिपूर्ण अहिंसा का विचार प्रविष्ट हुआ, अर्थात् मन, वचन और शरीर से हिंसा करना नहीं, करवाना नहीं, और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। बौद्ध और आजीवक परम्परा के श्रमणों ने भी इस नवकोटिक अहिंसा के आदर्श को स्वीकार कर उसके अर्थ को गहनता और व्यापकता प्रदान की, फिर भी बौद्ध परम्परा में षट्जीवनिकाय का विचार उपस्थित नहीं था। बौद्ध भिक्षु नदी–नालों के जल को छानकर उपयोग करते थे। दूसरे, उनके यहां नवकोटि अहिंसा की यह अवधारणा भी स्वयं की अपेक्षा से थी, दूसरा हमारे निमित्त क्या करता है–इसका विचार नहीं किया गया, जबकि जैन परम्परा में श्रमण के निमित्त से की जाने वाली हिंसा का भी विचार किया गया। निर्ग्रन्थ परम्परा का कहना था कि केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करें, न कराएं और न उसे अनुमोदन दें, अपितु यह भी आवश्यक है कि दूसरों को हमारे निमित्त हिंसा करने का अवसर भी नहीं देवें और उनके द्वारा की गई हिंसा में भागीदार न बनें। यही कारण था कि जहां बुद्ध और बौद्ध भिक्षु निमंत्रित भोजन को स्वीकार करते थे, वहां निर्ग्रन्थ परम्परा में औद्देशिक आहार भी अग्राह्य माना गया था, क्योंकि उसमें नैमेत्तिक हिंसा के दोष की सम्भावना थी। यद्यपि पिटकग्रंथों में बौद्ध भिक्षु के लिए ऐसा भोजन निषिद्ध माना गया है, जिसमें उसके लिए प्राणी हिंसा की गई हो और वह इस बात को जानता हो, या उसने ऐसा सुना हो, फिर भी यह अतिशयोक्ति नहीं है कि अहिंसा को जितना व्यापक अर्थ जैन परम्परा में दिया गया है, उतना अन्यत्र अनुपलब्ध ही है।

जैन परम्परा में अहिंसा का अर्थ-विस्तार

सम्भवतः, विश्व साहित्य में उपलब्ध प्राचीनतम जैन ग्रंथ आचारांग ही ऐसा है, जिसमें अहिंसा को सर्वाधिक अर्थविस्तार दिया गया है। उसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस प्राणी के रूप में षट्जीव निकाय की हिंसा का निषेध किया गया है। उसके प्रथम अध्याय का नाम ही शस्त्र-परिज्ञा है, जो अपने नाम के अनुरूप ही हिंसा के कारण और साधनों का विवेक कराता है। हिंसा-अहिंसा के विवेक के संबंध में षट्जीव निकाय की अवधारणा आचारांग की अपनी विशेषता है, जो कि परवर्ती सम्पूर्ण जैन साहित्य में स्वीकृत रही है। आचारांग में न केवल अहिंसा की अवधारणा को अर्थ विस्तार दिया गया है, अपितु उसे अधिक गहन और मनोवैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न भी किया गया है।

आचारांग में धर्म की दो प्रमुख व्याख्याएं उपलब्ध हैं। प्रथम व्याख्या है – सोमियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए (1/8/3), आर्यजनों ने समता (समभाव) को धर्म कहा है। धर्म की दूसरी व्याख्या है- सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा। एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए, समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए (1/41), किसी भी प्राणी, जीव और सत्त्व की हिंसा नहीं करना- यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है, जिसका उपदेश समस्त लोक की पीड़ा को जानकर दिया गया है। वस्तुतः, धर्म की ये दो व्याख्याएं दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। 'समभाव' के रूप में धर्म की परिभाषा समाज निरपेक्ष वैयक्तिक धर्म की परिभाषा है, क्योंकि समभाव सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारे स्व-स्वभाव का परिचायक है, जबकि अहिंसा एक व्यावहारिक एवं समाज सापेक्ष धर्म है, क्योंकि वह लोक की पीड़ा के निवारण के लिए है। अहिंसा समभाव की साधना की बाह्य अभिव्यक्ति है। समभाव अहिंसा का सारतत्त्व है और अहिंसा की आधार भूमि है।

अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर भी स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वहां अहिंसा को आर्हत् प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है। सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाए? सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है, वह कहता है कि सभी

प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः, सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है– सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुःखपडिकूला (1/2/3), अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन–विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। यद्यपि मैकेंजी ने अपने लेखन में अहिंसा का आधार 'भय' को माना है, किन्तु उसकी यह धारणा गलत है, क्योंकि यदि भय के सिद्धान्त को अहिंसा का आधार बनाया जाएगा, तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होगा, उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी, जबकि आचारांग तो सभी प्राणियों के प्रति, यहां तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात कहता है, अतः आचारांग में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं, अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुनः, इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ ही उसमें अहिंसा को तुल्यता–बोध का बौद्धिक आधार भी दिया गया है। वहां कहा गया है कि 'जो अज्झत्थं जाणई से बहिया जाणई एवं तुल्लमन्नसिं,(1/1/7), जो अपनी पीड़ा को जान पाता है, वही तुल्यता–बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है। प्राणीय पीड़ा की तुल्यता के बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धान्त को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास में यहां तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है, वह तू ही है (आचारांग –1/5/5)।' आगे वह कहता है कि जो लोक का अपलाप करता है, वह स्वयं अपनी आत्मा का अपलाप करता है (आचारांग–1/1/3)। अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन दर्शन के आत्मा संबंधी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता प्रतीत होता है, क्योंकि वहां वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असंभव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति 'पर बुद्धि' है, पराएपन का भाव है, तब तक हिंसा की संभावनाएँ उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिए हिंसा तभी असंभव हो सकती है, जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व, आत्मीय दृष्टि जाग्रत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी, उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की वैयक्तिकता की धारणा का भी अतिक्रमण कर उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण में

भी सूत्रकार ने एक स्थान पर जिस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है, वह सत्य यह है कि हिंसा से हिंसा का और घृणा से घृणा का निराकरण सम्भव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है–शस्त्रों के आधार पर अभय और हिंसा के आधार पर शांति की स्थापना संभव नहीं है, क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा सम्भव है, शांति की स्थापना तो निर्वैरता या प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। अशस्त्र से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है (आचारांग–1/3/4)।

आचारांग और सूत्रकृतांग में श्रमण साधक के लिए जिस जीवनचर्या का विधान है, उसे देखकर हम सहज ही यह कह सकते हैं कि वहां जीवन में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने का एक प्रयत्न अवश्य हुआ है, किन्तु उनमें अहिंसक मुनि जीवन का जो आदर्श चित्र उपस्थित किया गया है, वह अहिंसा के निषेधात्मक पहलू को ही प्रकट करता है। अहिंसा के विधायक पहलू की वहां कोई चर्चा नहीं है। यद्यपि आचारांग में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस शुद्ध, नित्य और शाश्वत अहिंसाधर्म का प्रवर्त्तन लोक की पीड़ा को जानकर ही किया गया है, फिर भी, तीर्थंकरों की यह असीम करुणा विधायक बनकर बह रही हो– ऐसा प्रतीत नहीं होता है। आचारांग और सूत्रकृतांग में पूर्ण अहिंसा का यह आदर्श निषेधात्मक ही रहा है।

यद्यपि यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर यही है कि अहिंसा को विधायक रूप देने का कोई भी प्रयास हिंसा के बिना सम्भव नहीं होगा। जब भी हम जीवन रक्षण (दया), दान, सेवा और सहयोग की कोई क्रिया करेंगे तो निश्चित ही वह बिना हिंसा के संभव नहीं होगी। नवकोटिपूर्ण अहिंसा का आदर्श कभी भी जीवन रक्षण,दान, सेवा और सहयोग के मूल्यों का सहगामी नहीं हो सकता। यही कारण था कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के दूसरे अध्याय के पांचवें उद्देशक में मुनि के लिए चिकित्सा करने और करवाने का भी निषेध कर दिया गया। सत्य तो यह है कि जीवन रक्षण और पूर्ण अहिंसा के आदर्श का परिपालन एक साथ सम्भव नहीं है। पुनः, सामुदायिक और पारिवारिक जीवन में तो उसका परिपालन अशक्य ही है। हम देखते हैं कि अहिंसक जीवन जीने के लिए जिस आदर्श की कल्पना आचारांग में की गई थी, उससे जैन परम्परा को भी नीचे उतरना पड़ा है। आचारांग के दूसरे श्रुतस्कंध में ही अहिंसक मुनि जीवन में कुछ अपवाद स्वीकार कर लिए हैं, जैसे–नौकायन, गिरने की सम्भावना होने पर

लता–वृक्ष आदि का सहारा लेकर उतरना आदि। इसी प्रसंग में हिंसा–अहिंसा–विवेक के संबंध में अल्प–बहुत्व का विचार सामने आया। जब हिंसा अपरिहार्य ही बन गई हो, तो बहु–हिंसा की अपेक्षा अल्प हिंसा को चुनना ही उचित माना गया। सूत्रकृतांग के आर्द्रक नामक अध्याय में हस्ति तापसों की चर्चा है। ये हस्तितापस यह मानते थे कि आहार के लिए अनेक वानस्पतिक–एकेन्द्रिय–जीवों की हिंसा करने की अपेक्षा एक महाकाय हाथी को मार लेना अल्प हिंसा है और इस प्रकार वे अपने को अधिक अहिंसक सिद्ध करते थे। जैन परम्परा ने इसे अनुपयुक्त बताया और कहा कि हिंसा–अहिंसा के विवेक में कितने प्राणियों की हिंसा हुई, यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। भगवतीसूत्र में इसी प्रश्न को लेकर यह कहा गया कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीव की और त्रस जीवों में पंचेन्द्रिय की, पंचेन्द्रियों में मनुष्य की और मनुष्य में ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट है। मात्र यही नहीं, जहां त्रस जीव की हिंसा करने वाला अनेक जीवों की हिंसा का भागी होता है, वहाँ ऋषि की हिंसा करने वाला अनंत जीवों की हिंसा का भागी होता है। अतः, हिंसा–अहिंसा के विवेक में संख्या का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि प्राणी की ऐंद्रिक एवं आध्यात्मिक क्षमता के विकास की बात। यह मान्यता कि सभी आत्माएं समान हैं, अतः, सभी हिंसाएं समान हैं, समुचित नहीं है। कुछ परम्पराओं ने सभी प्राणियों की हिंसा को समान स्तर का मानकर अहिंसा के विधायक पक्ष का जो निषेध कर दिया, वह तर्कसंगत नहीं है। उसके पीछे भ्रांति यह है कि हिंसा का सम्बन्ध आत्मा से जोड़ दिया गया है। हिंसा आत्मा की नहीं, प्राणों की होती है, अतः जिन प्राणियों की प्राणसंख्या अर्थात् जैविक शक्ति अधिक विकसित है, उनकी हिंसा अधिक निकृष्ट है। पुनः, हिंसा में स्तर–भेद स्वीकार करके ही अहिंसा को विधायक रूप दिया जा सकता है। हिंसा और अहिंसा के संबंध में यह प्रश्न इसलिए भी अधिक महत्वपूर्ण बन गया है कि इसका सीधा संबंध मांसाहार और शाकाहार के प्रश्न से जुड़ा हुआ था। यदि हम शाकाहार का समर्थन करना चाहते हैं, तो हमें यह मानना होगा कि हिंसा–अहिंसा के संबंध में संख्या का प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है–उसका ऐंद्रिक और आध्यात्मिक विकास। मात्र यही नहीं, सूत्रकृतांग में अल्प आरम्भ (अल्प हिंसा) युक्त गृहस्थ धर्म को भी एकांत–सम्यक् कहकर हिंसा–अहिंसा के प्रश्न को एक दूसरी ही दिशा प्रदान की गई। अहिंसा का संबंध बाहर की अपेक्षा अंदर से जोड़ा जाने लगा। हिंसा–अहिंसा के विवेक में बाह्य घटना की अपेक्षा साधक की मनोदशा को अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा। यद्यपि सूत्रकृतांग के आर्द्रक

नामक अध्याय में बौद्ध धर्म की इस धारणा की आलोचना की गई है। हिंसा-अहिंसा का प्रश्न व्यक्ति की मनोदशा के साथ जुड़ा हुआ है, न कि बाह्य घटना पर। किन्तु हम देखते हैं कि जैन परम्परा के परवर्ती ग्रन्थों में मनोदशा को ही हिंसा-अहिंसा के विवेक का आधार बनाया गया है। जहां द्रव्य हिंसा (बाह्य घटना) और भाव हिंसा (मनोदशा) का प्रश्न सामने आया, वहां यह माना जाने लगा कि भाव-हिंसा ही वास्तविक हिंसा है। भगवती (7/1/6-7), प्रवचनसार (3/17), ओघनिर्युक्ति (748-758), निशीथचूर्णि (92) आदि ग्रंथों में एक स्वर से यह बात स्वीकार की गई है कि जो अप्रमत्त और कषायरहित है, उसके द्वारा बाह्य रूप से होने वाली हिंसा वस्तुतः हिंसा नहीं है। यह भी माना गया कि जिस हिंसा में हिंसा करते हुए जितनी मनोभावों की क्रूरता अपेक्षित है, वह हिंसा उतनी ही निकृष्ट कोटि की है। वनस्पति की हिंसा की अपेक्षा पशु की हिंसा में और पशु की हिंसा की अपेक्षा मनुष्य की हिंसा में अधिक क्रूरता अपेक्षित है, अतः हिंसक भावों या कषायों की तीव्रता के कारण मनुष्य की हिंसा अधिक निकृष्ट कोटि की होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंसा-अहिंसा का विवेक रखते समय बाह्य घटना पर ही नहीं, वरन् कर्त्ता की मनोवृत्ति पर भी विचार करना होता है।

अहिंसा के बाह्य पक्ष की अवहेलना उचित नहीं

यह ठीक है कि हिंसा-अहिंसा के विचार में भावात्मक या आंतरिक पहलू महत्वपूर्ण हैं, किन्तु बाह्य पक्ष की अवहेलना उचित नहीं है। वैयक्तिक साधना की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं आंतरिक पक्ष ही सर्वाधिक मूल्यवान् होता है, लेकिन जहां सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है, वहां हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पहलू को झुठलाया नहीं जा सकता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से जिस पर विचार किया जा सकता है, वह तो आचरण का बाह्य पक्ष ही है।

गीता और बौद्ध दर्शन की अपेक्षा जैन विचारणा ने इस बाह्य पक्ष पर गहनतापूर्वक विचार किया है। वह यह मानती है कि किन्हीं अपवादात्मक अव्यवस्थाओं को छोड़कर सामान्यतया जो विचार में है, जो आंतरिक है, वही व्यवहार में प्रकट होता है। अंतरंग और बाह्य अथवा विचार और आचार के संबंध में द्वैत-दृष्टि उसे स्वीकार्य नहीं है। उसकी दृष्टि में अंतस में अहिंसकवृत्ति के होते हुए बाह्य रूप में हिंसक आचरण करना एक प्रकार की भ्रांति है, छलावा है, आत्मप्रवंचना है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि 'यदि हृदय

पापमुक्त हो, तो (हिंसादि) क्रिया करने पर भी निर्वाण अवश्य मिलता है।' – यह एक मिथ्या धारणा है। यदि गीता का यह मन्तव्य हो कि अन्तस में अहिंसक वृत्ति के होते हुए भी हिंसात्मक क्रिया की जा सकती है, तो जैन विचारणा का स्पष्ट रूप से उसके साथ विरोध है। जैन विचारणा कहती है कि अंतस में अहिंसक वृत्ति के होते हुए हिंसा नहीं की जा सकती, यद्यपि हिंसा हो सकती है। हिंसा किया जाना सदैव ही संकल्पात्मक होगा और आंतरिक विशुद्धि के होते हुए हिंसात्मक कर्म का संकल्प संभव ही नहीं है (सूत्र – कृतांगसूत्र 2/6/35)।

वस्तुतः, हिंसा–अहिंसा की विवक्षा में जैन दृष्टि का सार यह है कि हिंसा चाहे बाह्य हो या आंतरिक, वह आचरण का नियम नहीं हो सकती है। दूसरे, हिंसा–अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पक्ष की अवहेलना मात्र कतिपय अपवादात्मक अवस्थाओं में ही क्षम्य हो सकती है। हिंसा का हेतु मानसिक प्रवृत्तियां, कषाय हैं– यह मानना तो ठीक है, लेकिन यह मानना कि मानसिक वृत्तियों या कषायों के अभाव में की गई द्रव्य हिंसा हिंसा नहीं है, यह उचित नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि संकल्पजन्य हिंसा अधिक निकृष्ट है, लेकिन संकल्प के अभाव में होने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है या उससे कर्म आस्रव नहीं होता है–यह जैन कर्मसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। व्यावहारिक जीवन में हमें इसको हिंसा मानना होगा।

पूर्ण अहिंसा के आदर्श की सम्भावना का प्रश्न

यद्यपि अन्तस और बाह्य रूप से पूर्ण अहिंसा के आदर्श की उपलब्धि जैन विचारणा का साध्य है, लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में इस आदर्श की उपलब्धि सहज नहीं है। अहिंसा एक आध्यात्मिक आदर्श है और आध्यात्मिक स्तर पर ही इसकी पूर्ण उपलब्धि संभव है। भौतिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा की कल्पना समीचीन नहीं है। अहिंसक जीवन की संभावनाएं भौतिक स्तर से ऊपर उठने पर विकसित होती हैं। व्यक्ति जैसे–जैसे भौतिकता के स्तर से ऊपर उठता जाता है, अहिंसक जीवन की पूर्णता की दिशा में बढ़ता जाता है। इसी आधार पर, जैन विचारणा में अहिंसा की दिशा में बढ़ने के लिए कुछ स्तर निर्धारित किए गए हैं।

हिंसा का वह रूप, जिसे संकल्पजा हिंसा कहा जाता है, सभी के लिए त्याज्य है।

संकल्पजा हिंसा हमारे वैचारिक या मानसिक जगत् पर निर्भर है। मानसिक संकल्प के कर्त्ता के रूप में व्यक्ति में स्वतंत्रता की संभावनाएँ सर्वाधिक विकसित हैं। अपने मानसिक जगत् के क्षेत्र में व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र है। इस स्तर पर पूरी तरह अहिंसा का पालन अधिक सहज एवं संभव है। बाह्य स्थितियाँ इस स्तर पर हमें प्रभावित कर सकती हैं, लेकिन शासित नहीं कर सकतीं। व्यक्ति स्वयं अपने विचारों का स्वामी होता है, अतः इस स्तर पर अहिंसक होना सभी के लिए आवश्यक है। व्यावहारिक दृष्टि से संकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है। यह न तो जीवन के रक्षण के लिए है और न जीवन निर्वाह के लिए है, अतः इसे सभी के द्वारा छोड़ा जा सकता है।

हिंसा का दूसरा रूप विरोधजा है। यह प्रत्याक्रमण या सुरक्षात्मक है। 'स्व' एवं 'पर' के जीवन एवं स्वत्वों के रक्षण के लिए इसे करना पड़ता है। इसमें बाह्य परिस्थितिगत तत्त्वों का प्रभाव मुख्य होता है। बाह्य स्थितियाँ व्यक्ति को बाध्य करती हैं कि वह अपने एवं अपने साथियों के जीवन एवं स्वत्वों के रक्षण के लिए प्रत्याक्रमण के रूप में हिंसा करे। जो भी व्यक्ति शरीर एवं अन्य भौतिक संस्थानों पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं, अथवा जो भी अपने और अपने साथियों के अधिकारों में आस्था रखते हैं, इस विरोधजा हिंसा को छोड़ने में असमर्थ हैं। गृहस्थ उपासक हिंसा के इस रूप को पूरी तरह छोड़ पाने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि वे शरीर एवं अन्य भौतिक वस्तुओं पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं। इसी प्रकार शासक वर्ग, राजनीतिक नेता, जो मानवीय अधिकारों, राष्ट्रीय हितों में आस्था रखते हैं, इसे पूरी तरह छोड़ पाने में असमर्थ हैं।

आधुनिक युग में गांधी एक ऐसे विचारक अवश्य हैं, जिन्होंने विरोध का अहिंसक तरीका प्रस्तुत किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की, किन्तु अहिंसक के रूप में विरोध कर पाना, उसमें सफलता प्राप्त कर लेना, हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। अहिंसक रीति के अधिकारों का संरक्षण करने में वही व्यक्ति सफल होता है, जिसे शरीर के प्रति मोह न हो, पदार्थों में आसक्ति न हो, जिसके हृदय में विद्वेष का भाव न हो। यही नहीं, अहिंसक रीति से अधिकारों के संरक्षण की कल्पना एक सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव समाज में ही सम्भव हो सकती है। यदि विरोधी पक्ष मानवीय स्तर पर हो, तब तो अहिंसक विरोध सफल हो जाता है, लेकिन यदि विरोधी पक्ष पाशविक स्तर पर हो, तो अहिंसक विरोध की सफलता संदेहास्पद बन जाती है। पुनः, मानव में मानवीय गुणों की संभावना की आस्था ही अहिंसक विरोध का केन्द्रीय तत्त्व है। मानवीय गुणों में हमारी आस्था जितनी

बलशाली होगी और विरोधी में मानवीय गुणों का जितना अधिक प्रकटन होगा, अहिंसक विरोध की सफलता भी उतनी ही अधिक होगी।

जहां तक उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा का प्रश्न है, एक गृहस्थ उपासक उससे बच नहीं सकता, क्योंकि जब तक शरीर और सम्पत्ति का मोह है, आजीविका का अर्जन और शारीरिक आवश्यकता की पूर्त्ति दोनों ही आवश्यक हैं। इस स्तर पर हिंसा को त्रस प्राणियों की हिंसा और स्थावर प्राणियों की हिंसा–इन दो भागों में बांटा जा सकता है और व्यक्ति अपने को त्रस प्राणियों की हिंसा से बचा सकता है। जैन विचारणा में गृहस्थ उपासक के लिए उद्योग, व्यवसाय एवं जीवन रक्षण के लिए भी त्रस प्राणियों की हिंसा का निषेध किया गया है।

लेकिन, जब व्यक्ति शरीर और सम्पत्ति के मोह से ऊपर उठ जाता है, तो वह पूर्ण अहिंसा की दिशा में और आगे बढ़ जाता है। जहां तक श्रमण साधक या संन्यासी का प्रश्न है, वह निष्परिग्रही होता है, उसे अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं होता, अतः वह सर्वतोभावेन हिंसा के विरत होने का व्रत लेता है। शरीर धारण मात्र के लिए कुछ अपवादों को छोड़कर वह संकल्पपूर्वक और विवशतावश– दोनों ही परिस्थितियों में त्रस और स्थावर की हिंसा से पूर्ण विरत हो जाता है। मुनि नथमलजी के शब्दों में–'कोई भी व्यक्ति एक ही डग में चोटी तक नहीं पहुँच सकता। वह धीमे–धीमे आगे बढ़ता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा की पहुंच के कुछ स्तर निर्धारित किए हैं। वे वस्तुस्थिति पर आधारित हैं। उन्होंने हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया– 1. संकल्पजा, 2. विरोधजा, 3. आरम्भजा। संकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है। वह सबके लिए सर्वथा परिहार्य है। विरोधजा–हिंसा प्रत्याक्रमण हिंसा है। उसे छोड़ने में वह असमर्थ होता है, जो भौतिक संस्थानों पर अपना अस्तित्व रखना चाहता है। आरम्भजा हिंसा आजीविकात्मक हिंसा है। उसे छोड़ने में वे सब असमर्थ होते हैं, जो भौतिक साधनों के अर्जन–संरक्षण द्वारा अपना जीवन चलाना चाहते हैं (तट दो, प्रवाह एक, पृष्ठ 40)।'

प्रथम स्तर पर हम आसक्ति, तृष्णा आदि के वशीभूत होकर की जाने वाली अनावश्यक आक्रमणात्मक हिंसा से बचें, फिर दूसरे स्तर पर जीवनयापन एवं आजीविकोपार्जन के निमित्त होने वाली त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होवें, तीसरे स्तर पर विरोध के अहिंसक तरीके को अपनाकर प्रत्याक्रमणात्मक हिंसा से विरत होवें। इस प्रकार, जीवन के लिए आवश्यक बनी हुई हिंसा से क्रमशः उठते हुए चौथे स्तर पर शरीर

और परिग्रह की आसक्ति का परित्याग कर सर्वतोभावेन पूर्ण अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ें।

इस प्रकार, पूर्ण अहिंसा का आदर्श पूर्णतया अव्यवहारिक नहीं रहता। व्यक्ति जैसे-जैसे सम्पत्ति और शरीर के मोह से ऊपर उठता जाता है, अहिंसा का आदर्श उसके लिए व्यवहार्य बनता जाता है। पूर्ण अनासक्त जीवन में पूर्ण अहिंसा व्यवहार्य बन जाती है, यद्यपि यह ध्यान रखना होगा कि शरीरधारी रहते हुए पूर्ण अहिंसा एक आदर्श ही रहेगी, वह यथार्थ नहीं बन पाएगी। जब शरीर के संरक्षण का मोह समाप्त होगा, तभी वह आदर्श, यथार्थ की भूमि पर अवतरित होगा, फिर भी एक बात ध्यान में रखनी होगी, वह यह कि जब तक शरीर है और शरीर के संरक्षण की वृत्ति है, चाहे वह साधना के लिए ही क्यों न हो, यह कथमपि संभव नहीं है कि व्यक्ति पूर्ण अहिंसा के आदर्श को पूर्णरूपेण साकार कर सके। शरीर के लिए आहार आवश्यक है, कोई भी आहार बिना हिंसा के संभव नहीं होगा। चाहे हमारा मुनिवर्ग यह कहता भी हो कि हम औद्देशिक आहार नहीं लेते, किन्तु क्या उनकी विहार यात्रा में साथ चलने वाला पूरा लवाजिमा, सेवा में रहने के नाम पर लगने वाले चौके औद्देशिक नहीं? जब समाज में रात्रिभोजन सामान्य हो गया हो, क्या संध्याकालीन गोचरी में अनौद्देशिक आहार मिल पाना संभव नहीं है? क्या कश्मीर से कन्याकुमारी तक, मुम्बई से कलकत्ता तक की सारी यात्राएं औद्देशिक-आहार के अभाव में निर्विघ्न संभव हो सकती हैं? क्या आर्हत्-प्रवचन की प्रभावना के लिए मंदिरों का निर्माण, पूजा और प्रतिष्ठा के समारोह, संस्थाओं का संचालन, मुनिजनों के स्वागत और विदाई समारोह तथा अधिवेशन, षट्निकाय की नवकोटियुक्त अहिंसा के परिपालन के साथ कोई संगति रख सकते हैं? हमें अपनी अंतरात्मा से यह सब पूछना होगा। हो सकता है कि कुछ विरल संत और साधक हों, जो इन कसौटियों पर खरे उतरते हों। मैं उनकी बात नहीं कहता, वे शतशः वंदनीय हैं, किन्तु सामान्य स्थिति क्या है? फिर भिक्षाचर्या, पाद विहार, शरीर संचालन, श्वासोच्छ्वास-किसमें हिंसा नहीं है? महाभारत के शांतिपर्व में कहा गया है-'जल में जीव है, पृथ्वी पर और वृक्षों के फलों में अनेक जीव हैं। ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जो इन्हें नहीं मारता हो।' (15/25-26) पुनः, कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं, जो इन्द्रियों से नहीं, अनुमान से जाने जाते हैं, मनुष्य की पलकों के झपकने मात्र से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं, अतः जीव हिंसा से बचा नहीं जा सकता। एक ओर षट्जीवनिकाय की अवधारणा और दूसरी ओर पूर्ण नवकोटियुक्त पूर्ण अहिंसा का आदर्श। जीवित रहकर इन दोनों में संगति बिठा पाना अशक्य है। अतः, जैन आचार्यों को भी यह

कहना पड़ा कि 'अनेकानेक जीव समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तस् मं आध्यात्मिक विशुद्धि की दृष्टि से ही है'(ओघनिर्युक्ति, 747), लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम अहिंसा को अव्यवहार्य मानकर तिलांजलि दे देवें। यद्यपि एक शरीरधारी के नाते यह हमारी विवशता है कि हम द्रव्य और भाव–दोनों अपेक्षाओं से पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध नहीं करा सकते हैं, किन्तु उस दिशा में क्रमशः आगे बढ़ सकते हैं और जीवन की पूर्णता के साथ ही पूर्ण अहिंसा के आदर्श को भी उपलब्ध कर सकते हैं। कम से कम हिंसा की दिशा में आगे बढ़ते हुए साधक के लिए जीवन का अंतिम क्षण अवश्य ही ऐसा है, जब वह पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर सकता है। जैनधर्म की पारिभाषिक शब्दावली में कहें, तो पादपोपगमन संथारा एवं चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान की अवस्थाएं ऐसी हैं, जिनमें पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार हो जाता है।

पुनः, अहिंसा की संभावना पर हमें न केवल वैयक्तिक दृष्टि से ही विचार करना है, अपितु सामाजिक दृष्टि से भी विचार करना है। चाहे यह सम्भव भी हो, व्यक्ति शरीर, सम्पत्ति, संघ और समाज से निरपेक्ष होकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध हो सकता हो, फिर भी ऐसी निरपेक्षता किन्हीं विरल साधकों के लिए ही सम्भव होगी, सर्वमान्य के लिए तो सम्भव नहीं कही जा सकती है, अतः मूल प्रश्न यह है कि क्या सामाजिक जीवन पूर्ण अहिंसा के आदर्श पर खड़ा किया जा सकता है? क्या पूर्ण अहिंसक समाज की रचना सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व मैं आपसे समाज रचना के स्वरूप पर कुछ बातें कहना चाहूँगा। एक तो यह कि अहिंसक चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में समाज की कल्पना ही सम्भव नहीं है। समाज जब भी खड़ा होता है, आत्मीयता, प्रेम और सहयोग के आधार पर अर्थात् अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। हिंसा, लोभ, घृणा, विद्वेष, आक्रामकता की वृत्तियाँ जहाँ बलवती होंगी, सामाजिकता की भावना ही समाप्त हो जावेगी, समाज ढह जावेगा, अतः समाज और अहिंसा सहगामी हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें यह मानना होगा कि अहिंसा उसके लिए स्वाभाविक ही है। जब भी कोई समाज खड़ा होगा और टिकेगा, तो वह अहिंसा की भित्ति पर ही खड़ा होगा और टिकेगा, किन्तु एक दूसरा पहलू भी है, वह यह कि समाज के लिए भी अपने अस्तित्व और अपने सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहां अस्तित्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न है, वहां हिंसा अपरिहार्य है। हितों

में टकराव स्वाभाविक है। अनेक बार तो एक का हित दूसरे के अहित पर, एक का अस्तित्व दूसरे के विनाश पर खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में समाज–जीवन में भी हिंसा अपरिहार्य होगी। पुनः, समाज का हित और सदस्य–व्यक्ति का हित भी परस्पर विरोध में हो सकता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितों के संघर्ष की स्थिति हो, तो बहुजन हितार्थ हिंसा अपरिहार्य भी हो सकती है। जब समाज या राष्ट्र का कोई सदस्य या वर्ग अथवा दूसरा राष्ट्र, हितों के लिए हिंसा करने अथवा अन्याय पर उतारू हो जावे, तो निश्चय ही अहिंसा की दुहाई देने से काम न चलेगा। जब तक जैन आचार्यों द्वारा उद्घोषित 'मानव जाति एक है' की कल्पना साकार नहीं हो पाती और जब तक सम्पूर्ण मानव समाज ईमानदारी के साथ अहिंसा के पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता, तब तक अहिंसक समाज की बात कपोल–कल्पना ही कही जाएगी। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि जैनागम जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं, उसमें भी जब संघ की या संघ के किसी सदस्य की सुरक्षा या न्याय का प्रश्न आया, तो हिंसा को स्वीकार करना पड़ा। गणाधिपति चेटक और आचार्य कालक के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। यही नहीं, निशीथचूर्णि में तो यहां तक स्वीकार कर लिया गया है कि संघ की सुरक्षा के लिए मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसे प्रसंगों में पशु हिंसा तो क्या, मनुष्य हिंसा भी उचित मान ली गई है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक प्रवृत्तियों में आस्था रखता है, यह सोचना व्यर्थ ही है कि सामुदायिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। निशीथचूर्णि में अहिंसा के अपवादों को लेकर जो कुछ कहा गया है, उसे चाहे कुछ लोग साध्वाचार के रूप में सीधे मान्य करना न चाहते हों, किन्तु क्या यह नपुंसकता नहीं होगी, जब किसी मुनि संघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो, या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे अहिंसा की दुहाई देते हुए मौन दर्शक बने रहें? क्या उनका कोई दायित्व नहीं है? यह बात चाहे हास्यास्पद लगती हो कि अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा आवश्यक है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जिनमें अहिंसक संस्कृति की रक्षा के लिए हिंसकवृत्ति अपनाना पड़े। यदि हिंसा में आस्था रखने वाला कोई समाज किसी अहिंसक समाज को पूरी तरह मिटा देने को तत्पर हो जावे, तो क्या उस अहिंसक समाज को अपने अस्तित्व के लिए कोई संघर्ष नहीं करना चाहिए? हिंसा–अहिंसा का प्रश्न तब तक निरा वैयक्तिक प्रश्न नहीं है, जब तक सम्पूर्ण मानव समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर

नहीं होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा की जाने वाली अहिंसा के आदर्श की बात कोई अर्थ नहीं रखती है। संरक्षणात्मक और सुरक्षात्मक हिंसा समाज–जीवन के लिए अपरिहार्य है। समाज–जीवन में इसे मान्य भी करना ही होगा। इस प्रकार, उद्योग–व्यवसाय और कृषि कार्यों में होने वाली हिंसा भी समाज–जीवन में बनी ही रहेगी। मानव–समाज में मांसाहार एवं तज्जन्य हिंसा को समाप्त करने की दिशा में सोचा जा सकता है, किन्तु उसके लिए कृषि के क्षेत्र में एवं अहिंसक आहार की प्रचुर उपलब्धि के संबंध में व्यापक अनुसंधान एवं तकनीकी विकास की आवश्यकता होगी। यद्यपि हमें यह समझ लेना होगा कि जब तक मनुष्य की संवेदनशीलता को पशुजगत् तक विकसित नहीं किया जावेगा और मानवीय आहार को सात्विक नहीं बनाया जावेगा, मनुष्य की आपराधिक प्रवृत्तियों पर पूरा नियंत्रण नहीं होगा। आदर्श अहिंसक समाज की रचना हेतु हमें समाज से आपराधिक प्रवृत्तियों को समाप्त करना होगा और आपराधिक प्रवृत्तियों के नियमन के लिए हमें मानव जाति में संवेदनशीलता, संयम एवं विवेक के तत्त्वों को विकसित करना होगा।

हिंसा और अहिंसा का सीमा क्षेत्र

हिंसा और अहिंसा के सीमा क्षेत्र को समझने के लिए हमें हिंसा के तीन रूपों को समझ लेना होगा–1. हिंसा की जाती है, 2. हिंसा करनी पड़ती है, 3. हिंसा हो जाती है। हिंसा का वह रूप, जिसमें हिंसा की नहीं जाती, वरन् हो जाती है, हिंसा की कोटि में नहीं आता है, क्योंकि इसमें हिंसा का संकल्प पूरी तरह अनुपस्थित रहता है। मात्र यही नहीं, हिंसा से बचने की पूरी सावधानी भी रखी जाती है। हिंसा के संकल्प के अभाव में एवं सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी यदि हिंसा हो जाती है, तो वह हिंसा के सीमाक्षेत्र में नहीं आती है। हमें यह भी समझ लेना होगा कि किसी एक संकल्प की पूर्त्ति के लिए की जाने वाली क्रिया के दौरान सावधानी के बावजूद अन्य कोई हिंसा की घटना घटित हो जाती है, जैसे–गृहस्थ उपासक द्वारा भूमि जोतते हुए किसी त्रस प्राणी की हिंसा की जाना, अथवा किसी मुनि द्वारा पदयात्रा करते हुए त्रसप्राणी की हिंसा हो जाना, तो उन्हें उस हिंसा के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनके मन में उस हिंसा का कोई संकल्प ही नहीं है, अतः ऐसी हिंसा, हिंसा नहीं है। जैन परम्परा में हिंसा के निम्न चार स्तर माने गए हैं–1. संकल्पजा, 2. विरोधजा, 3. उद्योगजा, 4. आरम्भजा। इनमें

संकल्पजा हिंसा वह है, जो की जाती है, जबकि विरोधजा, उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा, हिंसा की वे स्थितियाँ हैं, जिनमें हिंसा करनी पड़ती है। फिर भी, चाहे हिंसा की जाती हो या हिंसा करनी पड़ती हो, दोनों ही अवस्थाओं में हिंसा का संकल्प या इरादा अवश्य होता है, यह बात अलग है कि एक अवस्था में हम बिना किसी परिस्थितिगत दबाव के स्वतंत्र रूप में हिंसा का संकल्प करते हैं और दूसरे में हमें विवशता में संकल्प करना होता है। फिर भी, पहली अधिक निकृष्ट कोटि की है, क्योंकि आक्रामणात्मक है। यह अर्थदण्ड है अर्थात् अनावश्यक है। वह या तो मनोरंजन के लिए की जाती है या शासन करने के लिए या स्वाद के लिए। हिंसा का यही रूप ऐसा है, जो सबके द्वारा छोड़ा जा सकता है, क्योंकि यह हमारे जीवन जीने के लिए जरूरी नहीं है। हिंसा का दूसरा रूप, जिसमें हिंसा करनी पड़ती है, हिंसा तो है किन्तु इसे छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक है, अर्थदण्ड है, जैसा कि हमने अहिंसा की संभावना के प्रसंग में देखा था। वे सभी गृहस्थ उपासक, जो अपने स्वत्वों का रक्षण करना चाहते हैं, जो जीवन जीने के लिए उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए हैं, जो समाज, संस्कृति और राष्ट्र की सुरक्षा एवं विकास का दायित्व लिए हुए हैं, इससे नहीं बच सकते। न केवल गृहस्थ उपासक, अपितु मुनिजन भी, जो किसी धर्म, समाज एवं संस्कृति के रक्षण, विकास एवं प्रसार का दायित्व अपने ऊपर लिये हुए हैं, इस प्रकार की अपरिहार्य हिंसा से नहीं बच सकते हैं।

फिर भी, यह आवश्यक है कि हम ऐसी हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहें, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जावेगा। विवशता में चाहे हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे, अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जावेगी, जैसे–कसाई बालक में। हिंसा–अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जाग्रत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदयशून्य नहीं बनाना है, क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जाग्रत बनी रही, तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध करेंगे, साथ ही वह हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज में सेवा और सहयोग की गंगा भी बहा सकेगी।

साथ ही, जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो, तो हमें अल्प हिंसा को चुनना होगा, किन्तु कौनसी हिंसा अल्प हिंसा होगी? यह निर्णय

देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहां हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आंकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है–1. प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और 2. उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतः, मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान् है और मनुष्यों में भी एक सन्त का। किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। संभवतः, हिंसा–अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा। यही कारण था कि हम चींटियों के प्रति संवेदनशील बन सके, किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति अहिंसा को सकारात्मक बनाना है।

जैन–दर्शन में अहिंसा का स्थान

अहिंसा जैन–दर्शन का प्राण है। जैन–दर्शन में अहिंसा वह धूरी है, जिस पर समग्र जैन आचार विधि घूमती है। जैनागमों में अहिंसा भगवती है। उसकी विशिष्टता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं–'भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषधि और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।'[1] वही मात्र एक ऐसा शाश्वत धर्म है, जिसका जैन तीर्थंकर उपदेश करते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है–भूत, भविष्य और वर्त्तमान के सभी अर्हंत् यही उपदेश करते हैं कि सभी प्राणियों, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए और न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है, जिसका समस्त लोक के दुःख जानकर अर्हंतों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है।[2] सूत्रकृतांग के अनुसार, ज्ञानी होने का सार यह है कि हिंसा न करें, अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।[3] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के प्रति संयम में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने के कारण महावीर ने इसको 'प्रथम स्थान' पर कहा है।[4] भक्तपरिज्ञा नामक ग्रंथ में कहा गया है कि अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।[5]

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के अनुसार तो जैन आचार विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है, उसके बाहर उसमें कुछ है ही नहीं। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएं इसके अन्तर्गत हैं। आचार के नियमों के दूसरे रूप, जैसे–असत्य भाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि तो जनसाधारण को सुलभ रूप से समझाने के लिए भिन्न–भिन्न नामों से कहे जाते हैं। वस्तुतः, वे सभी अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।[6] जैन आचार दर्शन में अहिंसा वह आधार वाक्य है, जिससे आचार के सभी नियम निर्गमित होते हैं। भगवती आराधना में कहा गया है कि अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भस्थल (उत्पत्ति स्थान) है।[7]

बौद्ध आचार–दर्शन में अहिंसा का स्थान

बौद्धदर्शन के दस शीलों में अहिंसा का स्थान प्रथम है। चतुःशतक में कहा गया है– तथागत ने संक्षेप में केवल 'अहिंसा' – इन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।[8] धम्मपद में बुद्ध ने हिंसा को अनार्य कर्म कहा है। वे कहते हैं, जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता। सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करने वाला ही आर्य कहा जाता है।[9]

बुद्ध हिंसा एवं युद्ध के नीतिशास्त्र के तीव्र विरोधी हैं। धम्मपद में कहा गया है कि विजय से वैर उत्पन्न होता है, पराजित दुःखी होता है, जो जय–पराजय को छोड़ चुका है, उसे ही सुख है, उसे ही शांति है।

अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध इस बात को अधिक स्पष्ट कर देते हैं कि हिंसक व्यक्ति इसी जगत् में नारकीय जीवन का सृजन कर लेता है, जबकि अहिंसक व्यक्ति इसी जगत् में स्वर्गीय जीवन का सृजन कर लेता है। वे कहते हैं–'भिक्षुओं! तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है, जैसे लाकर स्वर्ग में डाल दिया गया हो। कौन से तीन?–'स्वयं प्राणी हिंसा से विरत रहता है, दूसरे को प्राणी हिंसा की ओर नहीं घसीटता और प्राणी हिंसा का समर्थन नहीं करता है।'[11]

महायान सम्प्रदाय में करुणा और मैत्री की भावना का जो चरम उत्कर्ष देखा जाता है, उसकी पृष्ठभूमि में यही अहिंसा का सिद्धान्त रहा हुआ है।

हिन्दू–दर्शन और गीता में अहिंसा का स्थान

गीता में अहिंसा का महत्व स्वीकृत करते हुए उसे भगवान् का ही भाव कहा गया है,

उसे देवी सम्पदा एवं सात्विक तप बताया है।[12] महाभारत में तो जैन विचारणा के समान ही अहिंसा में सभी धर्मों को अन्तर्भूत मान लिया है।[13] मात्र यही नहीं, उसमें भी धर्म के उपदेश का उद्देश्य प्राणियों को हिंसा से विरत करना माना गया है। 'अहिंसा ही धर्म का साकर है' – इसे स्पष्ट करते हुए महाभारत के लेखक का कथन है–'प्राणियों की हिंसा न हो, इसलिए धर्म का उपदेश दिया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है।'[14]

लेकिन, यह प्रश्न हो सकता है कि गीता में तो बार–बार अर्जुन को युद्ध करने का निर्देश दिया गया है और उसका युद्ध से विमुख होना निन्दनीय एवं कायरतापूर्ण माना गया है, फिर गीता को अहिंसा की विचारणा का समर्थक कैसे माना जाए? इस संबंध में मैं अपनी ओर से कुछ कहूँ, इसके पहले हमें गीता के व्याख्याकारों की दृष्टि से ही इसका समाधान पा लेने का प्रयास करना चाहिए। गीता के आद्य टीकाकार आचार्य शंकर 'युद्धस्व' (युद्धकर) शब्द की टीका में लिखते हैं कि यहां युद्ध की कर्त्तव्यता का विधान नहीं है।[15] मात्र यही नहीं, आचार्य गीता के 'आत्मोपम्येन सर्वत्र' के आधार पर गीता में अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।' जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सभी प्राणियों को सुख अनुकूल है और जैसे दुःख मुझे अप्रिय एवं प्रतिकूल है, वैसे सब प्राणियों को भी दुःख अप्रिय व प्रतिकूल है। इस प्रकार, जो सब प्राणियों में अपने समान ही सुख और दुःख को तुल्यभाव से अनुकूल और प्रतिकूल देखता है, किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता, वह अहिंसक है। ऐसा अहिंसक पुरुष पूर्णज्ञान में स्थित है, वह सब योगियों में परम उत्कृष्ट माना जाता है।[16]

महात्मा गांधी भी गीता को अहिंसा का प्रतिपादक मानते हैं। उनका कथन है– 'गीता की मुख्य शिक्षा हिंसा नहीं, अहिंसा है। हिंसा बिना क्रोध, आसक्ति एवं घृणा के नहीं होती और गीता हमें सत्व, रजस् और तमस् गुणों के रूप में घृणा, क्रोध आदि की अवस्थाओं से ऊपर उठने को कहती है, फिर हिंसा कैसे हो सकती है।[17]' डॉ.राधाकृष्णन् भी गीता को अहिंसा की प्रतिपादक मानते हैं, वे लिखते हैं–'कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का परामर्श देते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वे युद्ध की वैधता का समर्थन कर रहे हैं। युद्ध तो एक ऐसा अवसर आ पड़ा है, जिसका उपयोग गुरु उस भावना की ओर संकेत करने के लिए करता है, जिस भावना के साथ सब कार्य, जिनमें युद्ध भी सम्मिलित है, किये जाने चाहिए। यहाँ हिंसा या अहिंसा का प्रश्न नहीं है, अपितु अपने उन मित्रों के विरुद्ध हिंसा के

प्रयोग का प्रश्न है, जो अब शत्रु बन गए हैं। युद्ध के प्रति उसकी हिचक आध्यात्मिक विकास या सत्व गुण की प्रधानता का परिणाम नहीं है, अपितु अज्ञान और वासना की उपज है। अर्जुन इस बात को स्वीकार करता है कि वह दुर्बलता और ममत्व के वशीभूत हो गया है। गीता हमारे सम्मुख जो आदर्श उपस्थित करती है, वह हिंसा का नहीं, अपितु अहिंसा का है। कृष्ण अर्जुन को आवेश या दुर्भावना के बिना, राग और द्वेष के बिना युद्ध करने को कहते हैं और यदि हम अपने मन को ऐसी स्थिति में ले जा सकें, तो हिंसा असम्भव हो जाती है।'[18]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि गीता भी अहिंसा की समर्थक है। मात्र अन्याय के प्रतिकार के लिए अद्वेष–बुद्धिपूर्वक विवशता में करना पड़े, ऐसी हिंसा का जो समर्थन गीता में दिखाई पड़ता है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि गीता हिंसा की समर्थक है। अपवाद रूप में हिंसा का समर्थन नियम नहीं बन जाता। ऐसा समर्थन तो हमें जैनागमों में भी उपलब्ध हो जाता है।

अहिंसा का आधार

अहिंसा की भावना के मूलाचार के संबंध में विचारकों में कुछ भ्रांत धारणाओं को प्रश्रय मिला है, अतः उन पर सम्यक्रूपेण विचार कर लेना आवश्यक है। मैकेन्जी ने अपने 'हिन्दू एथिक्स' में इस भ्रांत विचारणा को प्रस्तुत किया है कि अहिंसा के प्रत्यय का निर्माण भय के आधार पर हुआ है। वे लिखते हैं–असभ्य मनुष्य जीव के विभिन्न रूपों को भय की दृष्टि से देखते हैं और भय की यह धारणा ही अहिंसा का मूल है,[19] लेकिन मैं समझता हूँ, कोई भी प्रबुद्ध विचारक मैकेन्जी की इस धारणा से सहमत नहीं होगा। जैनागमों के आधार पर भी इस धारणा का निराकरण किया जा सकता है। अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान एवं समत्वभावना है। समत्वभाव से सहानुभूति, समानुभूति एवं आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा जीवन के प्रति भय से नहीं, जीवन के प्रति सम्मान से विकसित होती है। दशवैकालिक में कहा गया है–सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, अतः निर्ग्रन्थ प्राणवध (हिंसा) का निषेध करते हैं।[20] वस्तुतः, प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्त्तव्य की स्थापना करता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। उत्तराध्ययनसूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त की

स्थापना करते हुए कहा गया है कि 'भय और वैर से मुक्त साधक जीवन के प्रति प्रेम रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करें।[21] यह मैकेन्जी की भय पर अधिष्ठित अहिंसा की धारणा का सचोट उत्तर है। जैन-आगम आचारांगसूत्र में तो आत्मीयता की भावना के आधार पर ही अहिंसा सिद्धान्त की प्रस्तावना की गई है। जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपलाप करता है, वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है।[22] इसी ग्रंथ में आगे पूर्ण आत्मीयता की भावना को परिपुष्ट करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं- जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है और जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह भी तू ही है।[23] भक्तपरिज्ञा से भी इसी कथन की पुष्टि होती है, उसमें लिखा है- किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है और अन्य जीवों पर दया अपनी ही दया है।[24]'

भगवान् बुद्ध ने भी अहिंसा के आधार के रूप में इसी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को ग्रहण किया था। सुत्तनिपात में वे कहते हैं कि जैसा मैं हूँ, वैसे ही ये सब प्राणी हैं और जैसे ये सब प्राणी हैं, वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार, अपने समान सब प्राणियों को समझकर न स्वयं किसी का वध करें और न दूसरों से कराएं।[25]

गीता में भी अहिंसा की भावना के आधार के रूप में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की उदात्त धारणा ही है। यदि हम गीता को अद्वैतवाद का समर्थक मानें, तो अहिंसा के आधार की दृष्टि से जैन दर्शन और अद्वैतवाद में यह अन्तर हो सकता है कि जहां जैन परम्परा में सभी आत्माओं की तात्त्विक समानता के आधार पर अहिंसा की प्रतिष्ठा की गई है, वहां अद्वैतवादी विचारणा में तात्त्विक अभेद के आधार पर अहिंसा की स्थापना की गई है। कोई भी सिद्धान्त हो, अहिंसा के उद्भव की दृष्टि से महत्व की बात यही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन ही अहिंसा की भावना का मूल उद्गम है।[26] जब व्यक्ति में इस संवेदनशीलता का सच्चे रूप में उदय हो जाता है, तो हिंसा का विचार असम्भव हो जाता है।

जैनागमों में अहिंसा की व्यापकता

जैन विचारणा में अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक है, इसका बोध हमें प्रश्नव्याकरणसूत्र से हो सकता है, जिसमें अहिंसा के निम्न साठ पर्यायवाची नाम दिए गए हैं-[27] 1. निर्वाण, 2. निवृत्ति, 3. समाधि, 4. शांति, 5. कीर्त्ति, 6. कांति, 7. प्रेम, 8.,

वैराग्य, 9. श्रुतांग, 10. तृप्ति, 11. दया, 12. विमुक्ति, 13. क्षान्ति, 14. सम्यक् आराधना, 15. महती, 16. बोधि, 17. बुद्धि, 18. धृति, 19. समृद्धि, 20. ऋद्धि, 21. वृद्धि, 22. स्थिति (धारक), 23. पुष्टि (पोषक), 24. नन्द (आणंद), 25. भद्रा, 26. विशुद्धि, 27. लब्धि, 28. विशेष दृष्टि, 29. कल्याण, 30. मंगल, 31. प्रमोद, 32. विभूति, 33. रक्षा, 34. सिद्धावास, 35. अनास्रव, 36. कैवल्यस्थान, 37. शिव, 38. समिति, 39. शील, 40. संयम, 41. शील परिग्रह, 42. संवर, 43. गुप्ति, 44. व्यवसाय, 45. उत्सव, 46. यज्ञ, 47. आयतन, 48. यतन, 49. अप्रमाद, 50. आश्वासन, 51. विश्वास, 52. अभय, 53. सर्व अनाघात (किसी को न मारना), 54. चोक्ष (स्वच्छ), 55. पवित्र, 56. शुचि, 57. पूता, 58. विमला, 59. प्रभात और 60. निर्मलतरा।

इस प्रकार, जैन आचार दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक दृष्टि को लेकर उपस्थित होता है। उसके अनुसार, सभी सदगुण अहिंसा के ही विभिन्न रूप हैं और अहिंसा ही एकमात्र सदगुण है।

अहिंसा क्या है?

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है।[28] यह अहिंसा की निषेधात्मक परिभाषा है, लेकिन मात्र हिंसा को छोड़ना अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों का स्पर्श नहीं करती। वह एक आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कही जा सकती है। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य बनकर रह जाती है, जबकि आध्यात्मिकता तो आंतरिक होती है। हिंसा नहीं करना– यह अहिंसा का शरीर हो सकता है, अहिंसा की आत्मा नहीं। किसी को नहीं मारना, यह अहिंसा के संबंध में मात्र स्थूल दृष्टि है, लेकिन यह मानना भ्रांतिपूर्ण होगा कि जैन विचारणा अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तक सीमित रही है। जैन आचार दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व अहिंसा शाब्दिक रूप में यद्यपि नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है। सर्व के प्रति आत्मभाव, करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से ही अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। हिंसा नहीं करना– यही मात्र अहिंसा नहीं है। अहिंसा क्रिया नहीं, सत्ता है, जो हमारी आत्मा की एक अवस्था है। आत्मा की प्रमत्त अवस्था ही हिंसा है और अप्रमत्त अवस्था ही अहिंसा है। आचार्य भद्रबाहु ओघनिर्युक्ति में लिखते हैं –पारमार्थिक दृष्टिकोण से आत्मा ही

हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है, प्रमत्त आत्मा हिंसक है और अप्रमत्त आत्मा ही अहिंसक है।[29]

द्रव्य एवं भाव हिंसा

अहिंसा को सम्यक् रूप से समझने के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जैन विचारणा हिंसा के दो पक्षों पर विचार करती है। एक, हिंसा का बाह्य पक्ष है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्य हिंसा कहा गया है। द्रव्य हिंसा के संबंध में एक स्थूल एवं बाह्य दृष्टिकोण है। यह एक क्रिया है, जिसे प्राणातिपात, प्राणवध, प्राणहनन आदि नामों से जाना जाता है। जैन विचारणा आत्मा को अपेक्षाकृत रूप से नित्य मानती है, अतः हिंसा के द्वारा जिसका हनन होता है, वह आत्मा नहीं वरन 'प्राण' है। प्राण जैविक शक्ति है। जैन विचारणा में प्राण दस माने गए हैं। पांच इन्द्रियों की पांच शक्तियाँ मन, वाणी और शरीर इनका विविध बल तथा श्वसन क्रिया एवं आयुष्य– ये दस प्राण हैं और इन प्राणशक्तियों के वियोजीकरण को ही द्रव्य दृष्टि से हिंसा कहा जाता है।[30] यह हिंसा की द्रव्य दृष्टि से की गई परिभाषा है, जो कि हिंसा के बाह्य पक्ष पर बल देती है।

भाव हिंसा हिंसक विचार है, जबकि द्रव्य हिंसा हिंसक कर्म है। भाव हिंसा मानसिक अवस्था है। आचार्य अमृतचंद्र ने भावनात्मक पक्ष पर बल देते हुए हिंसा–अहिंसा की परिभाषा की है। उनका कथन है कि रागादि कषायों का अभाव अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है।[31] हिंसा की एक पूर्ण परिभाषा तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार राग, द्वेष, अविवेक आदि प्रमादों से युक्त होकर किया जाने वाला प्राण वध हिंसा है।[32]

हिंसा के प्रकार

जैन विचारकों ने द्रव्य और भाव–इन दो आधारों पर हिंसा के चार विभाग किए हैं– (1)मात्र शारीरिक हिंसा, (2)मात्र वैचारिक हिंसा, (3) शारीरिक एवं वैचारिक हिंसा और (4)शाब्दिक हिंसा। मात्र शारीरिक हिंसा–ऐसी द्रव्य हिंसा है, जिसमें हिंसक क्रिया तो सम्पन्न हुई हो, लेकिन हिंसा के विचार का अभाव हो, उदाहरणार्थ–सावधानीपूर्वक चलते हुए भी दृष्टिदोष या सूक्ष्म जन्तु के नहीं दिखाई देने पर हिंसा हो जाना। मात्र

वैचारिक हिंसा – यह भाव हिंसा है, इसमें हिंसा की क्रिया तो अनुपस्थित होती है, लेकिन हिंसा का संकल्प उपस्थित होता है, अर्थात् कर्त्ता हिंसा के संकल्प से युक्त होता है, लेकिन बाह्य परिस्थितिवश उसे क्रियान्वित करने में सफल नहीं हो पाता है, जैसे–कैदी का न्यायाधीश की हत्या करने का विचार (परम्परागत दृष्टि के अनुसार तंदुलमच्छ एवं कालकौसरिक कसाई के उदाहरण इसके लिए दिए जाते हैं)। वैचारिक एवं शारीरिक हिंसा –जिसमें हिंसा का विचार और हिंसा की क्रिया–दोनों ही उपस्थित हों, जैसे–संकल्पपूर्वक की गई हत्या। शाब्दिक हिंसा, जिसमें न तो हिंसा का विचार हो और न हिंसा की क्रिया– मात्र हिंसक शब्दों का उच्चारण हो, जैसे सुधार भावना की दृष्टि से माता–पिता का बालकों पर या गुरु का शिष्य पर कृत्रिम रूप से कुपित होना।[33] नैतिकता या बंधन की तीव्रता की दृष्टि से हिंसा के इन चार रूपों में क्रमशः शाब्दिक हिंसा की अपेक्षा संकल्परहित मात्र शारीरिक हिंसा, संकल्परहित शारीरिक हिंसा की अपेक्षा मात्र वैचारिक हिंसा और मात्र वैचारिक हिंसा की अपेक्षा संकल्पयुक्त शारीरिक हिंसा अधिक निकृष्ट मानी गई है।

हिंसा की विभिन्न स्थितियाँ

वस्तुतः, हिंसा की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं–(1)हिंसा की गई हो, (2)हिंसा करनी पड़ी हो और (3)हिंसा हो गई हो। पहली स्थिति में यदि हिंसा चेतन रूप से की गई हो, तो वह संकल्पयुक्त है और यदि अचेतन रूप से की गई हो, तो वह प्रमादयुक्त है। हिंसक क्रिया चाहे संकल्प से उत्पन्न हुई हो या प्रमाद के कारण हुई हो, वहां कर्त्ता दोषी है। दूसरी स्थिति में हिंसा चेतन रूप से, किन्तु विवशतावश करनी पड़ती है, यह बाध्यता शारीरिक हो सकती है अथवा बाह्य परिस्थितिजन्य। यहाँ भी कर्त्ता दोषी है, कर्म का बंधन भी होता है, लेकिन पश्चाताप या ग्लानि के द्वारा वह उससे शुद्ध हो जाता है। बाध्यता की अवस्था में की गई हिंसा के लिए कर्त्ता को दोषी मानने का आधार यह है कि समग्र बाध्यताएँ स्वयं के द्वारा आरोपित हैं। बाध्यता के लिए कर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है। बाध्यताओं की स्वीकृति कायरता एवं शरीर मोह की प्रतीक हैं। बंधन में होना और बंधन को मानना– यह दोनों ही कर्त्ता की विकृतियाँ हैं और जब तक ये विकृतियाँ हैं, कर्त्ता स्वयं दोषी है ही। तीसरी स्थिति में हिंसा न तो प्रमाद के कारण होती है और न विवशतावश ही, वरन् सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी हो जाती है। जैन विचारणा के अनुसार हिंसा की यह

तीसरी स्थिति कर्त्ता की दृष्टि से निर्दोष मानी जा सकती है।

हिंसा के विभिन्न रूप

हिंसक कर्म की उपर्युक्त तीन विभिन्न अवस्थाओं में यदि तीसरी हिंसा हो जाने की अवस्था को छोड़ दिया जाए तो हमारे समक्ष हिंसा के दो रूप बचते हैं –

1. हिंसा की गई हो, और
2. हिंसा करनी पड़ी हो।

वे दशाएँ, जिनमें हिंसा करना पड़ती है, दो प्रकार की हैं –

1. रक्षणात्मक और
2. आजीविकात्मक।

आजीविकात्मक में भी दो बातें सम्मिलित हैं, जीवन जीने के लिए साधनों का अर्जन और उनका उपभोग।

जैन अचार दर्शन में इसी आधार पर हिंसा के चार वर्ग माने गए हैं –

1. **संकल्पजा** – संकल्प या विचारपूर्वक हिंसा करना। यह आक्रमणात्मक हिंसा है।
2. **विरोधजा** – स्वयं और दूसरे लोगों के जीवन और स्वत्वों (अधिकारों) के आरक्षण के लिए विवशतावश हिंसा करना। यह रक्षणात्मक हिंसा है।
3. **उद्योगजा** – आजीविका के उपार्जन अथवा उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होने वाली हिंसा। यह उपार्जनात्मक हिंसा है।
4. **आरम्भजा** – जीवन निर्वाह के निमित्त होने वाली हिंसा, जैसे भोजन पकाने में। यह निर्वाहात्मक हिंसा है।

हिंसा के कारण

जैन आचार्यों ने हिंसा के 4 कारण माने हैं–

1.राग, 2.द्वेष, 3. कषाय और 4. प्रमाद।

हिंसा के साधन

जहां तक हिंसा के मूल साधनों का प्रश्न है, वे तीन हैं– मन, वचन और शरीर। व्यक्ति सभी प्रकार की हिंसा इन्हीं तीन साधनों के द्वारा करते हैं।

क्या पूर्ण अहिंसक होना सम्भव है?

जैन विचारणा के अनुसार न केवल पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि एवं वनस्पति ही जीवनयुक्त हैं, वरन् समग्र लोक ही सूक्ष्म जीवों से भरा हुआ है। क्या ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति पूर्ण अहिंसक हो सकता है? महाभारत में भी जगत् को सूक्ष्म जीवों से व्याप्त मानकर यही प्रश्न उठाया गया है। जल में बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वी पर तथा वृक्षों के फलों में भी अनेक जीव (प्राण) होते हैं। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो इनमें से किसी को कभी नहीं मारता हो। पुनः, कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं, जो इंद्रियों से नहीं, मात्र अनुमान से ही जाने जाते हैं, मनुष्य की पलकों के गिरने मात्र से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं अर्थात् मर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की हिंसा से नहीं बचा जा सकता है।[34] प्राचीन युग से ही जैन विचारकों की दृष्टि भी इस प्रश्न की ओर गई है। ओघनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु इस प्रश्न के संदर्भ में जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–जिनेश्वर भगवान् का कथन है कि अनेकानेक जीव समूहों के परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तस में आध्यात्म–विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं।[35] जैन विचारणा के अनुसार भी बाह्य हिंसा से पूर्णतया बच पाना सम्भव नहीं। जब तक शरीर तथा शारीरिक क्रियाएं हैं, तब तक कोई भी व्यक्ति बाह्य दृष्टि से पूर्ण अहिंसक नहीं रह सकता।

हिंसा, अहिंसा का संबंध व्यक्ति के अन्तःकरण से है

हिंसा और अहिंसा का प्रत्यय बाह्य घटनाओं पर उतना निर्भर नहीं है, जितना वह साधक की आंतरिक अवस्था पर आधारित है। हिंसा और अहिंसा के विवेक का आधार प्रमुख रूप से आंतरिक है। हिंसा–विचार में संकल्प की प्रमुखता जैन आगमों में स्वीकार की गई है। भगवतीसूत्र में एक संवाद के द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है। गणधर गौतम महावीर से प्रश्न करते हैं– हे भगवन्! किसी श्रमणोपासक ने त्रस प्राणी के वध नहीं करने की प्रतिज्ञा ली हो, लेकिन पृथ्वीकाय की हिंसा की प्रतिज्ञा नहीं ग्रहण की हो, यदि भूमि खोदते हुए उससे किसी प्राणी का वध हो जाए, तो क्या उसकी प्रतिज्ञा भंग हुई? इस

प्रश्न के उत्तर में महावीर कहते हैं कि यह मानना उचित नहीं है कि उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई है।[36] इस प्रकार, हम देखते हैं कि संकल्प की उपस्थिति अथवा साधक की मानसिक स्थिति ही हिंसा–अहिंसा के विचार में प्रमुख तत्त्व है। परवर्ती जैन साहित्य में भी यह धारणा पुष्ट होती रही है। आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि 'सावधानीपूर्वक चलने वाले साधु के पैर के नीचे भी कभी–कभी कीट–पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते हैं और दबकर मर जाते हैं, लेकिन उक्त हिंसा के निमित्त से सूक्ष्म कर्मबंध भी नहीं बताया गया है, क्योंकि वह अन्तस में सर्वतोभावेन उस हिंसा–व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप है।[37] जो विवेकवान्, अप्रमत्त साधक हृदय से निष्पाप है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा हो जाने वाली हिंसा भी कर्मनिर्जरा का कारण है,[38] लेकिन जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। मात्र यही नहीं, वरन् जो प्राणी नहीं मारे गए हैं, प्रमत्त उनका भी हिंसक है, क्योंकि वह अंतर में सर्वतोभावेन पापात्मा है।[39] इस प्रकार, आचार्य का निष्कर्ष यही है कि केवल दृश्यमान् पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता।[40]

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में लिखते हैं, कि 'बाहर में प्राणी मरे या जीये, आतताचारी प्रमत्त को अंदर में हिंसा निश्चित है, परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, संयताचारी है, उसकी बाहर से होने वाली हिंसा से कर्मबंध नहीं है।'[41] आचार्य अमृतचंद्र सूरि लिखते हैं कि रागादि कषायों से मुक्त नियमपूर्वक आचरण करते हुए भी यदि प्राणाघात हो जाए, तो वह हिंसा, हिंसा नहीं है।[42] निशीथचूर्णि में भी कहा गया है कि प्राणातिपात (हिंसा) होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है।[43]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन आचार्यों की दृष्टि में हिंसा–अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आंतरिक रहा है। जैन आचार्यों के इस दृष्टिकोण के पीछे जो प्रमुख विचार है, वह यह है कि व्यवहारिक रूप में पूर्ण अहिंसा का पालन और जीवन में सद्‌गुण के विकास की दृष्टि से जीवन को बनाए रखने का प्रयास– ये दो ऐसी स्थितियाँ हैं, जिनको साथ–साथ चलाना सम्भव नहीं होता है, अतः जैन विचारकों को अंत में यही स्वीकार करना पड़ा कि हिंसा अहिंसा का संबंध बाहरी घटनाओं की अपेक्षा आंतरिक वृत्तियों से है।

इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें गीता और धम्मपद में भी मिलता है। गीता कहती है–

जो अहंकार की भावना से मुक्त है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इन सब मनुष्यों को मारता हुआ भी मारता नहीं है और वह (अपने कर्मों के कारण) बंधन में नहीं पड़ता।[45]

धम्मपद में भी कहा गया है–'वीततृष्ण व्यक्ति ब्राह्मण माता–पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जीता है, क्योंकि वह पाप–पुण्य से ऊपर उठ जाता है।'[46] इस प्रकार, हम देखते हैं कि हिंसा और अहिंसा की विवेचना के मूल में प्रमाद या रागादि भाव ही प्रमुख तथ्य हैं।

****

संदर्भ

1. अहिंसाए भगवतीए–एसा सा भगवती अहिंसा (प्रश्नव्याकरणसूत्र – 2/1/21–22)
2. जे अइया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा–अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविंति एवं परुविंतिसव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्ञावेयव्वा, न परिधितव्वा, न परितावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए समिच्च लोये खेयण्णाहिं पवेइए। (आचारांग–4/127 सं. आत्मारामजी, जैन स्थानक लुधियाना, 1964) 4/127)
3. एवं खु णाणिणो सारं जं ण हिंसइ किंचनं।
   अहिंसा समय चेव एतांवतं वियाणिया। – सूत्रकृतांग 1/4/10
4. तत्थिमं पढ्मं ठाणं महावीरेण देसियं।
   अहिंसा निउणआ दिट्ठा सव्वभूए सुसंजमो। –दशवैकालिक–6/91
5. धम्ममहिंसा समं नत्थि। भक्तिपरिज्ञा – 91
6. अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाया। –पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 42
7. सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो व सव्व सत्थाणं य । –भगवती आराधना 90
8. धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता । –चतुःशतक
9. न तेन अरिया होंति येन पाणानि हिंसति।
   अहिंसा सव्वपाणानं,अरियो ति पवुच्चति। – धम्मपद 270
10. जयवेरं पसवति दुःख सेति पराजितो। ·
    उपसन्तो सुखं सेति जयपराजयो। – धम्मपद 201
11. अंगुत्तरनिकाय, तीसरा निपात 153
12. गीता –10/5–7, 16/2, 7/14
13. एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते। –महाभारत, शांतिपर्व–245/19, गीताप्रेस गोरखपुर,

14. अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासपृक्तः स धर्म इति निश्चयः। – महाभारत, शांतिपर्व–109/121

15. न हि अत्र युद्धःकर्त्तव्यो विधीयते। – गीता, शांकरभाष्य–2/181

16. गीता, शांकरभाष्य –6/32

17. दी भगवद्गीता एण्ड चेंजिंग वर्ल्ड, पृष्ठ 122

18. भगवद्गीता–राधाकृष्णन्, पृष्ठ 74–75

19. हिन्दू एथिक्स ( )

20. सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्झिउं
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंतिणं।– दशवैकालिक–6/11

21. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणेपियायए।
ण हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए ।। उत्तराध्ययन–6/7

22. जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति। – आचारांग–13/31

23. तुमंसि नाम तं चेव जं हन्तव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम तं चेव जं अज्ञावेयव्वति मन्नसि, तुमंसि नाम त चेव जं परियावेयव्वति मन्नसि – आचारांग–1/5–4

24. जीववहो अप्पवहो जीवदया अप्पणो दया होई।– भक्तपरिज्ञा 93

25. यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घायते।।– सुत्तनिपात–3/37/27

26. दर्शन और चिन्तन, खण्ड 2, पृष्ठ 125

27. प्रश्नव्याकरणसूत्र–2/21

28. हिंसाए पडिवक्खो होई अहिंसा–दशवैकालिक, निर्युक्ति 60

29. आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छयो एसो।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ इयरो।।– ओघनिर्युक्ति 754

30. पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बल च उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः।
प्राणाः दशैतेभगवद्भिरुक्तास्तेषा वियोजीकरण तु हिंसा।। –अभिधानराजेन्द्र, खण्ड 7, पृष्ठ 1228

31. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।। – पुरुषार्थसिद्धयुपाय 44

32. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा–तत्त्वार्थसूत्र–7/8

33. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड 7, पृष्ठ 1231

34. उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात्।।

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः।। – महाभारत, शान्तिपर्व–15/25–26

35. अज्झत्थ विसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगंत्त जिणेहिंतिलोयदरिसीहिं।। – ओघ निर्युक्ति, 747

36. समणोवागस्सणंभते। पुव्वमेव तस पाण समारम्भे पचखाए भवई, पुडवीं समारम्भे ण पचखाए भवइ, से य पुढवि खणमाणे अण्णयरं तसपाणं विहिंसेज्ञा सेणं भंते ते वयं अतिचरित? नो इणट्ठे समट्ठे नो खलु से तस अइवायाए आउट्ठई। – भगवती–7/1

37. उच्चालियंमि पाए, ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं जोगमासज्ज।
न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहमो वि देसिओ समए।
अणावज्जो उ प ओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा।। – ओघनिर्युक्ति 778–49

38. जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होई निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स।। – ओघनिर्युक्ति 559

39. जे य पमत्तो पुरिसो, तस्स योग पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होई।।
जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सोउ।
सावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा।। – ओघनिर्युक्ति 752–53

40. न य हिंसामेत्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होई। ओघनिर्युक्ति 758

41. मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्सणिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स नत्थि बंधो हिसामेत्तेण समिदस्स।।– प्रवचनसार 217

42. युक्ताचरण स्य सतो रागाद्यावशमन्तरेणाऽपि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव।। –पुरुषार्थसिद्धयुपाय 45

43. सति पाणातिवाए अप्पमत्तो अवहगो भवति।
एवं असति पाणातिवाए पम्मत्ताए वहगो भवति।।– निशीथचूर्णि 92

44. देखिए– दर्शन और चिंतन, खण्ड 2, पृष्ठ 414

45. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। – गीता–18/17

46. मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिधो याति ब्राह्मणो।– धम्मपद 294

***

10 भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धांत और उसकी उपादेयता

संग्रहवृत्ति का उद्भव एवं विकास

अपरिग्रह का प्रश्न सम्पत्ति के स्वामित्व से जुड़ा हुआ है और सम्पत्ति की अवधारणा का विकास मानव जाति के विकास का सहगामी है। मानव इस पृथ्वी पर कैसे और कब अस्तित्व में आया? यह प्रश्न आज भी वैज्ञानिकों के लिए एक गूढ़ पहेली बना हुआ है। विकासवादी दार्शनिक मानव-सृष्टि को विकास की प्रक्रिया का ही एक अंग मानते हैं। अमीबा जैसे एककोशीय प्राणी से प्राणियों की विभिन्न जातियों की विकास प्रक्रिया के माध्यम से मनुष्य की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं, जबकि जैनदर्शन सृष्टि को आरोह और अवरोह की एक सतत प्रक्रिया (continuing process) बताता है और मानव जाति के अस्तित्व को भी इस आरोह और अवरोह क्रम के संदर्भ में ही विवेचित करता है। फिर भी नृतत्व विज्ञान, विकासवादी दर्शन और जैन दर्शन इस संबंध में एकमत हैं कि मानव की वर्त्तमान सभ्यता का विकास उसके प्राकृतिक जीवन से हुआ है। एक समय था, जबकि मनुष्य विशुद्ध रूप से एक प्राकृतिक जीवन जीता था और प्रकृति भी इतनी समृद्ध थी कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए न तो कोई विशिष्ट श्रम करना होता था और न संग्रह ही, अतः उस युग में परिग्रह का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ था, क्योंकि उस युग में न तो सम्पत्ति ही थी और न उसके स्वामित्व का विचार ही था। मानव उदार प्रकृति की गोद में पलता और पोषित होता था। जैन परम्परा में इसे यौगलिक युग (अकर्म

युग) कहा जाता है। साम्यवादी विचारधारा की दृष्टि से यह प्रारम्भिक साम्यवाद (Primitive Socialism) की अवस्था थी। सामान्यतया, इस युग में मानव की आकांक्षाएं इतनी बढ़ी–चढ़ी नहीं थीं और एक दृष्टि से वह सुखी और संतुष्ट था।

किन्तु, धीरे धीरे एक ओर जनसंख्या बढ़ी तथा दूसरी ओर प्रकृति की समृद्धता कम होने लगी, अतः जीवन जीना जटिल होने लगा। यहीं से श्रम की उद्भावना हुई। जैन–परम्परा के अनुसार, ऐसी अवस्था में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने मानव जाति को कृषि की शिक्षा दी। कृषि में जहां एक ओर मानव श्रम लगने लगा, वहीं दूसरी ओर उस श्रम के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्न सामग्री के संचयन और स्वामित्व का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। वस्तुतः, कृषि से उत्पन्न सामग्री ऐसी नहीं, जो वर्ष में हर समय सुलभ हो सके, केवल वर्षा पर आश्रित कृषि नियत समय पर अपनी उपज दे पाती थी और इसलिए वर्षभर के लिए अन्न का संचयन आवश्यक था। जीवन रक्षण के लिए संचयन की इस वृत्ति से परिग्रह का विचार विकसित हुआ है। मनुष्य की यह संग्रहवृत्ति कृषि उत्पादन के संचयन और स्वामित्व तक ही सीमित नहीं रही, अपितु कृषि भूमि और कृषि में सहयोगी पशुओं के स्वामित्व का प्रश्न भी सामने आया। हो सकता है कि कुछ समय तक मानव ने समूह के सामूहिक स्वामित्व की धारणा के आधार पर कार्य चलाया हो, किन्तु संचयन और स्वामित्व की वृत्ति के परिणामस्वरूप स्वार्थ का उद्भव स्वाभाविक ही था। मानव की इस स्वामित्व की भूख और स्वार्थलिप्सा ने सामन्तवाद को जन्म दिया। राज्य एवं उनके स्वामी राजा, महाराजा और सामंत अस्तित्व में आए और परिणामस्वरूप मानव जाति स्वामी और दास वर्ग में विभाजित हो गई। मानव के शोषण, पीड़न और अत्याचार के एक नए युग का सूत्रपात हुआ। भगवान् ऋषभ के द्वारा प्रवर्त्तित वही कृषि क्रांति, जो मानव जाति की सुख–सुविधा और शांति का संदेश लेकर आई थी, भगवान् महावीर के युग तक आते–आते स्वार्थलिप्सा से युक्त हाथों में पहुंचकर न केवल मानव जाति में दास और स्वामी का तथा शोषित और शोषक वर्ग का भेद खड़ा कर रही थी, अपितु मानव समाज के एक बहुत बड़े भाग के संताप और पीड़ा का कारण भी बन गई थी।

महावीर के युग की सामाजिक और आर्थिक स्थिति

भगवान् महावीर के युग में तत्कालीन समाज–व्यवस्था कैसी थी? उसमें आर्थिक विषमताजन्य द्वेष, ईर्ष्या, शोषण और पीड़न आदि विद्यमान् थे या नहीं? यह महत्वपूर्ण

प्रश्न कई विचारकों के सम्मुख है। तत्कालीन समाज व्यवस्था का जो चित्र जैन आगमों में विद्यमान है, उससे यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उस युग में भी आर्थिक विषमताएं और तज्जन्य द्वेष, ईर्ष्या आदि सब कुछ थे। तत्कालीन समाज व्यवस्था का जो शब्दचित्र लगभग 2500 वर्ष पश्चात् आज भी उपलब्ध है, उससे यह कहा जा सकता है कि उस समय समाज के सदस्यों में संग्रहवृत्ति भी थी, इस कारण जहां एक व्यक्ति बहुत अधिक धनी था, वहीं दूसरा व्यक्ति अत्यधिक अभावग्रस्त था। एक ओर शालिभद्र जैसे श्रेष्ठि थे, तो दूसरी ओर पणिया जैसे निर्धन श्रावक। बड़े–बड़े सामन्त और सेठ अपने यहां नौकर–चाकर रखते थे। केवल यही नहीं, अपितु दास प्रथा तक विद्यमान थी। डॉ.जगदीशचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' में 'ऋणदास', 'दुर्भिक्षदास' आदि का उल्लेख करते हुए बताया है कि इस प्रकार के दासों की मुक्ति किस प्रकार हुआ करती थी? तात्पर्य यह है कि तत्कालीन समाज व्यवस्था में अर्थ के सद्भाव तथा अभाव (Haves & Haves not) की समस्या थी। निश्चित रूप में, इस कारण विषमता, द्वेष, ईर्ष्या–सब हुआ करती होंगी। यदि हम जैन आगम उपासकदशांग का अवलोकन करें, तो हमें यह स्पष्ट हो जाएगा कि कुछ लोगों के पास कितनी प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति थी। केवल यही नहीं, अपितु धन के उत्पादन के मुख्य साधन (भूमि, श्रम, पूंजी एवं प्रबंध) पर उनका अधिकार (चाहे एकाधिकार न हो) था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस युग में एक ओर समाज के कुछ सदस्यों के पास विपुल सम्पत्ति तथा अर्थोपार्जन के प्रमुख साधन विपुल मात्रा में थे, तो दूसरी ओर कुछ लोग अभाव और गरीबी का जीवन जी रहे थे। महावीर ने समाज में उपस्थित इस आर्थिक विषमता के कारण की खोज की और मानव की तृष्णा को इसका मूल कारण माना।

संग्रहवृत्ति या परिग्रह का मूल कारण–'तृष्णा '

भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्ययनसूत्र ' में आर्थिक विषमता तथा तज्जनित सभी दुःखों का कारण तृष्णा की वृत्ति को माना। वे कहते हैं कि जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है, उसके दुःख भी समाप्त हो जाते हैं।[1] वस्तुतः, तृष्णा का ही दूसरा नाम लोभ है और इसी लोभ से संग्रहवृत्ति का उदय होता है। 'दशवैकालिकसूत्र' में लोभ को समस्त सद्गुणों का विनाशक माना गया है। जैन विचारधारा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी दुष्पूर खाई है, जिसका कभी अंत नहीं होता। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान्

महावीर ने कहा है– यदि सोने और चाँदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिए जाएं तो भी यह तृष्णा शांत नहीं हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो, वह सीमित है और तृष्णा अनन्त (असीम)है, अतः सीमित साधनों से असीम तृष्णा की पूर्त्ति नहीं की जा सकती।[2]

वस्तुतः, तृष्णा के कारण संग्रहवृत्ति का उदय होता है और यह संग्रहवृत्ति आसक्ति के रूप में बदल जाती है। यही आसक्ति परिग्रह का मूल है। दशवैकालिक के अनुसार आसक्ति ही वास्तविक परिग्रह है।[3] भारतीय ऋषियों के द्वारा अनुभूत यह सत्य आज भी उतना ही यथार्थ है, जितना कि उस युग में था, जब इसका कथन किया गया था। न केवल जैन दर्शन में अपितु बौद्ध और वैदिक दर्शनों में भी तृष्णा को समस्त सामाजिक वैषम्य और वैयक्तिक दुःखों का मूल कारण माना गया है, क्योंकि तृष्णा से संग्रहवृत्ति उत्पन्न होती है, संग्रह शोषण को जन्म देता है और शोषण से अन्याय का चक्र चलता है। भगवान् बुद्ध का भी कहना है कि यह तृष्णा दुष्पूर है और जब तक तृष्णा नष्ट नहीं होती, तब तक दुःख भी नष्ट नहीं होता। 'धम्मपद' में वे कहते हैं कि जिसे यह विषैली और नीच तृष्णा घेर लेती है, उसके दुःख उसी प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार खेती में वीरण घास बढ़ती है।[4] भगवान् बुद्ध ने इस तृष्णा को तीन प्रकार का माना है–1. भव तृष्णा, 2. विभव तृष्णा और 3. काम तृष्णा। भवतृष्णा अस्तित्व या जीवन बने रहने की है, यह राग–स्थानीय है। विभवतृष्णा समाप्त हो जाने या नष्ट हो जाने की तृष्णा है, यह द्वेष–स्थानीय है। कामतृष्णा भोगों की उपलब्धि की तृष्णा है और यही परिग्रह का मूल है। गीता में भी आसक्ति को ही जागतिक दुःखों का मूल कारण माना गया है। 'गीता' में यह स्पष्ट किया गया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोगवासना के लिए प्रेरित करता है। 'गीता' यह भी स्पष्ट रूप से कहती है कि आसक्ति में बंधा हुआ व्यक्ति काम–भोगों की पूर्त्ति के लिए अन्यायपूर्वक संग्रह करता है। इस प्रकार, सम्पूर्ण भारतीय चिंतन संग्रहवृत्ति के मूल कारण के रूप में तृष्णा को स्वीकार करता है। संत सुंदरदासजी ने इस तथ्य का एक सुंदर चित्र खींचा है। वे बताते हैं कि किस प्रकार यह तृष्णा, संग्रह की उद्दाम वृत्तियों को जन्म दे देती है। वे लिखते हैं–

जो दस बीस पचास भये, शत होइ हजार तु लाख मांगेसी।
कोटि अरब्ब खरब्ब, धरापति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पताल को राज करो, तिसना अधिकी अति आग लगेगी।

'सुंदर' एक संतोष बिना, शठ तेरी तो भूख कबहूं न भगेगी।

पाश्चात्य विचारक महात्मा टालस्टाय ने भी How much land does a man need नामक कहानी में एक ऐसा ही सुंदर चित्र खींचा है। कहानी का सारांश यह है कि कथानायक भूमि की असीम तृष्णा के पीछे अपने जीवन को समाप्त कर देता है और उसके द्वारा उपलब्ध किए गए विस्तृत भू भाग में केवल उसके शव को दफनाने जितना भू-भाग ही उसके उपयोग में आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव में संग्रहवृत्ति या परिग्रह की धारणा का विकास उसकी तृष्णा के कारण ही हुआ है। मनुष्य के अंदर रही हुई तृष्णा या आसक्ति मुख्यतः दो रूपों में प्रकट होती है–1. संग्रह भावना और 2. भोग भावना। संग्रह भावना और भोग भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के अधिकार की वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार, आसक्ति का बाह्य प्रकटन निम्नलिखित तीन रूपों में होता है– 1.अपहरण (शोषण), 2. भोग, 3. संग्रह।

संग्रहवृत्ति एवं परिग्रहजन्य समस्याओं के निराकरण के उपाय

भगवान् महावीर ने संग्रहवृत्ति के कारण उत्पन्न समस्याओं के समाधान की दिशा में विचार करते हुए बताया कि संग्रहवृत्ति पाप है। यदि मनुष्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है, तो वह समाज में अपवित्रता का सूत्रपात करता है। संग्रह फिर चाहे धन का हो या अन्य किसी वस्तु का, वह समाज के अन्य सदस्यों को उनके उपभोग के लाभ से वंचित कर देता है। परिग्रह या संग्रहवृत्ति एक प्रकार की सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में समग्र परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न हैं। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप में संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप बन जाता है। अहिंसा के सिद्धान्त को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि व्यक्ति बाह्य परिग्रह का भी विसर्जन करे। परिग्रहत्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में दिया गया प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति का सिद्धान्त। इन दोनों में कोई मेल नहीं हो सकता। यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है, तो उसका बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकटन होना चाहिए। अनासक्ति की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन में परिग्रह मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश दिया गया है। दिगम्बर जैन मुनि के अपरिग्रही जीवन का आदर्श

अनासक्त दृष्टि का एक जीवित प्रमाण है। यद्यपि यह सम्भव है कि अपरिग्रही होते हुए भी व्यक्ति के मन में आसक्ति का तत्त्व रह जाए, लेकिन इस आधार पर यह मानना कि विपुल संग्रह को रखते हुए भी अनासक्त वृत्ति का पूरी तरह निर्वाह हो सकता है, समुचित नहीं है।

भगवान् महावीर ने आर्थिक विषमता, भोगवृत्ति और शोषण की समाप्ति के लिए मानव जाति को अपरिग्रह का संदेश दिया। उन्होंने बताया कि इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है (इच्छा हु आगास समा अणंतया) और यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं रखे, तो वह शोषक बन जाता है। अतः भगवान् महावीर ने इच्छाओं के नियंत्रण पर बल दिया। जैन दर्शन में जिस अपरिग्रह सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है उसका एक नाम 'इच्छा परिमाण व्रत' भी है। भगवान् महावीर ने मानव की संग्रहवृत्ति को अपरिग्रह व्रत एवं इच्छा परिमाण व्रत के द्वारा नियंत्रित करने का उपदेश दिया है, साथ ही उसकी भोग–वासना और शोषण की वृत्ति के नियंत्रण के लिए ब्रह्मचर्य, उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत तथा अस्तेय व्रत का विधान भी किया है। मनुष्य अपनी संग्रहवृत्ति को इच्छा परिमाण व्रत के द्वारा या परिग्रह व्रत के द्वारा नियंत्रित करे। इसी प्रकार, अपनी भोग वृत्ति एवं वासनाओं को उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत एवं ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा नियंत्रित करे, साथ ही समाज को शोषण से बचाने के लिए अस्तेय व्रत और अहिंसा व्रत का पालन करे।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि महावीर ने मानव जाति को आर्थिक विषमता और तज्जनित परिणामों से बचाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्रदान की है। मात्र इतना ही नहीं, महावीर ने उन लोगों को, जिनके पास संग्रह था, दान का उपदेश भी दिया। अभाव पीड़ित समाज के सदस्यों के प्रति व्यक्ति के दायित्व को स्पष्ट करते हुए महावीर ने श्रावक के लिए आवश्यक कर्त्तव्यों में दान का विधान किया है, यद्यपि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन दर्शन और अन्य भारतीय दर्शनों में दान अभावग्रस्त पर कोई अनुग्रह नहीं है, अपितु उनका अधिकार है। दान के लिए 'संविभाग' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि जो व्यक्ति समविभाग और सम वितरण नहीं करता उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है।[5] ऐसा व्यक्ति पापी है। सम विभाग और सम वितरण सामाजिक न्याय एवं आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अंग माने गए हैं। जब तक जीवन में सम विभाग और सम वितरण की वृत्ति नहीं आती और अपने संग्रह का विसर्जन नहीं किया जाता, तब तक आध्यात्मिक जीवन या समत्व की उपलब्धि भी सम्भव नहीं होती।

संदर्भः1. उत्तराध्ययन, 32/8, **2.** उत्तराध्ययन–9/48, **3.** दशवैकालिक–6/21, **4.** धम्मपद 335, **5.** उत्तराध्ययनसूत्र–17/11, प्रश्नव्याकरण–2/3/

***

11

भगवान् महावीर का अनेकांतवाद (स्याद्वाद) : एक चिन्तन

स्याद्वाद का अर्थ-विश्लेषण

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है, अतः स्याद्वाद को समझने के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ विश्लेषण आवश्यक है। स्यात् शब्द के अर्थ के संदर्भ में जितनी भ्रांति दार्शनिकों में रही है, संभवतः उतनी अन्य किसी शब्द के संबंध में नहीं। विद्वानों द्वारा हिन्दी भाषा में स्यात् का अर्थ 'शायद', 'संभवतः', 'कदाचित्' और अंग्रेजी भाषा में probable, may be, perhaps, some how आदि के रूप में किया गया है। इन्हीं अर्थों के आधार पर उसे संशयवाद, संभावनावाद या अनिश्चयवाद समझने की भूल की जाती रही है। यह सही है कि किन्हीं संदर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित्, शायद या संभव आदि भी होता है, किन्तु इस आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चयवाद मान लेना एक भ्रांति होगी। हमें यहां इस बात को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना होगा कि प्रथम तो एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, दूसरे, अनेक बार शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में न होकर विशिष्ट अर्थ में होता है, जैसे-जैन परम्परा में 'धर्म' शब्द का प्रयोग धर्म-द्रव्य के रूप में होता है। जैन आचार्यों ने स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में किया है। यदि स्याद्वाद के आलोचक विद्वानों ने स्याद्वाद संबंधी किसी भी मूल ग्रंथ को देखने की कोशिश की होती, तो उन्हें स्यात् शब्द का जैन परम्परा में क्या अर्थ है, यह स्पष्ट हो जाता। स्यात्

शब्द के अर्थ के संबंध में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण उसे तिङ्न्त पद मान लेना है, जबकि समन्तभद्र, विद्यानन्दि, अमृतचंद्र, मल्लिषेण आदि सभी जैन आचार्यों ने इसे निपात या अव्यय माना है। समन्तभद्र स्यात् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि स्यात् एक निपात शब्द है, जो अर्थ के साथ संबंधित होने पर वाक्य में अनेकांतता का द्योतक और विवक्षित अर्थ का एक विशेषण है।[1] इसी प्रकार, पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य अमृतचंद्र भी स्यात् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'स्यात्' एकान्तता का निषेधक, अनेकान्तता का प्रतिपादक तथा कथंचित् अर्थद्योतक एक निपात शब्द है।[2]

मल्लिषेण ने भी स्याद्वादमंजरी में स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक एक अव्यय माना है।[3] इस प्रकार, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन विचारकों की दृष्टि से स्यात् शब्द संशयपरक न होकर अनेकान्तिक किन्तु निश्चयात्मक अर्थ का द्योतक है। मात्र इतना ही नहीं, जैन दार्शनिक इस संबंध में भी सहज थे कि आलोचक या जनसाधारण द्वारा स्यात् शब्द का संशयपरक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए उन्होंने स्यात् शब्द के साथ 'एव' शब्द के प्रयोग की योजना भी की है, जैसे –'स्यादस्त्येव घटः', अर्थात् किसी अपेक्षा से यह घड़ा ही है। यह स्पष्ट है कि 'एव' शब्द निश्चयात्मकता का द्योतक है। 'स्यात्' तथा 'एव' शब्दों का एक साथ प्रयोग श्रोता की संशयात्मकता को समाप्त कर उसे सापेक्षिक किन्तु निश्चय ज्ञान प्रदान करता है। वस्तुतः, इस प्रयोग में 'एव' शब्द 'स्यात्' शब्द की अनिश्चितता को समाप्त कर देता है और 'स्यात्' शब्द 'एव' शब्द की निरपेक्षता एवं एकान्तता को समाप्त कर देता है और इस प्रकार वे दोनों मिलकर कथित् वस्तु–धर्म की सीमा नियत करते हुए सापेक्ष किन्तु निश्चित ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। अतः, स्याद्वाद को संशयवाद या संभावनावाद नहीं कहा जा सकता है। 'वाद' शब्द का अर्थ कथनविधि है। इस प्रकार, स्याद्वाद सापेक्षिक कथन पद्धति या सापेक्षिक निर्णय पद्धति का सूचक है। वह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तुतत्त्व का विविध पहलुओं या विविध आयामों से विश्लेषण करता है और अपने उन विश्लेषित विविध निर्णयों को इस प्रकार भाषा में प्रस्तुत करता है कि वे अपने पक्ष की स्थापना करते हुए भी वस्तुतत्त्व में निहित अन्य 'अनुक्त' अनेकानेक धर्मों एवं संभावनाओं (पर्यायों) का निषेध न करें। वस्तुतः, स्याद्वाद हमारे निर्णयों एवं तज्जनित कथनों को प्रस्तुत करने का एक निर्दोष एवं अहिंसक

तरीका है, अविरोधपूर्वक कथन की एक शैली है। उसका प्रत्येक भंग अनेकांतिक ढंग से एकांतिक कथन करता है, जिसमें वक्ता अपनी बात इस ढंग से कहता है कि उसका वह कथन अपने प्रतिपक्षी कथनों का पूर्ण निषेधक न बने। संक्षेप में, स्याद्वाद अपने समग्र रूप में अनेकान्त है और प्रत्येक भंग की दृष्टि से सम्यक् एकान्त भी है। सप्तभंगी अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के संबंध में एक ऐसी कथन-पद्धति या वाक्य-योजना है, जो उसमें अनुक्त धर्मों की सम्भावना का निषेध करते हुए सापेक्षिक किन्तु निश्चयात्मक ढंग से वस्तुतत्त्व के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि में रखते हुए, उसके किसी एक धर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन या निषेध करती है। इसी प्रकार, अनेकांतवाद भी वस्तुतत्त्व के संदर्भ में एकाधिक निर्णयों को स्वीकृत करता है। वह कहता है कि एक ही वस्तुतत्त्व के संदर्भों में विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर अनेक निर्णय (कथन) दिये जा सकते हैं, अर्थात् अनेकांत वस्तुस्वरूप के संबंध में अनेक निर्णयों या निष्कर्षों की संभाव्यता का सिद्धान्त है। जैनाचार्यों ने अनेकांत को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'सर्वथैकांत प्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकांतः', अर्थात् अनेकांत मात्र एकांत का निषेध है और वस्तु में निहित परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रकाशक है।

स्याद्वाद के आधारः

सम्भवतः, यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि स्याद्वाद या सापेक्षित कथन पद्धति की क्या आवश्यकता है? स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की आवश्यकता के मूलतः चार कारण हैं-

1. वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता,
2. मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों की सीमितता,
3. मानवीय ज्ञान की अपूर्णता एवं सापेक्षता तथा
4. भाषा के अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता एवं सापेक्षता।

(अ) वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता

सर्वप्रथम स्याद्वाद के औचित्य स्थापन के लिए हमें वस्तुतत्त्व के उस स्वरूप को समझ लेना होगा, जिसके प्रतिपादन का हम प्रयास करते हैं। वस्तुतत्त्व मात्र सीमित लक्षणों का पुंज है, जैन दार्शनिकों ने उसे अनन्तधर्मात्मक कहा है। यदि हम वस्तुतत्त्व के

भावात्मक गुणों पर ही विचार करें, तो उनकी संख्या भी अनेक होगी, उदाहरणार्थ–गुलाब का फूल गंध की दृष्टि से सुगंधित है, तो वर्ण की दृष्टि से किसी एक या एकाधिक विशिष्ट रंगों से युक्त है, स्पर्श की दृष्टि से उसकी पंखुड़ियां कोमल हैं, किन्तु डंठल तीक्ष्ण है, उसमें एक विशिष्ट स्वाद है, आदि। यह तो हुई वस्तु के भावात्मक धर्मों की बात, किन्तु उसके अभावात्मक धर्मों की संख्या तो उसके भावात्मक धर्मों की अपेक्षा कई गुना अधिक होगी, जैसे–गुलाब का फूल, चमेली, मोगरे या पलाश के फूल सा नहीं है। वह अपने से इतर सभी फूलों से भिन्न है और उसमें उन सभी वस्तुओं के अनेकानेक धर्मों का अभाव भी है। पुनः, यदि हम वस्तुतत्त्व की भूत एवं भावी तथा व्यक्त और अव्यक्त पर्यायों (संभावनाओं) पर विचार करें, तो उसके गुण धर्मों की यह संख्या और भी अधिक बढ़कर निश्चित ही अनन्त तक पहुंच जावेगी, अतः यह कथन सत्य है कि वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक होने के साथ–साथ अनेकान्तिक भी है। मानव बुद्धि जिन्हें परस्पर विरोधी गुण मान लेती हैं वे एक ही वस्तुतत्त्व में अपेक्षाभेद से एक साथ रहते हुए देखे जाते हैं।[4]

अस्तित्व नास्तित्व पूरक हैं और नास्तित्व अस्तित्व पूरक हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है, जो द्रव्य दृष्टा से नित्य है, वही पर्यायदृष्टि से अनित्य भी है। उत्पत्ति के बिना विनाश और विनाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है। पुनः, उत्पत्ति और विनाश के लिए ध्रौव्यत्व भी अपेक्षित है अन्यथा उत्पत्ति और विनाश किसका होगा? क्योंकि विश्व में विनाश के अभाव से उत्पत्ति जैसी भी कोई स्थिति नहीं है। यद्यपि ध्रौव्यत्व और उत्पत्ति–विनाश के धर्म परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों को सहवर्ती माने बिना विश्व की व्याख्या असम्भव है। यही कारण था कि भगवान् महावीर ने अपने युग में प्रचलित शाश्वतवादी और उच्छेदवादी आदि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मध्य में समन्वय करते हुए अनेकान्तिक दृष्टि से वस्तुतत्त्व को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहकर परिभाषित किया।[5] जिनोपदष्टि यह त्रिपदी ही अनेकान्तवादी विचार पद्धति का आधार है।[5] स्याद्वाद और नयवाद संबंधी विपुल साहित्य मात्र इसका विस्तार है। त्रिपदी ही जिन द्वारा वपित वह 'बीज' है, जिससे स्याद्वादरूपी वटवृक्ष विकसित हुआ है। यह वस्तुतत्त्व के उस अनेकान्तिक स्वरूप की सूचक है, जिसका स्पष्टीकरण भगवतीसूत्र में स्वयं भगवान् महावीर ने विविध प्रसंगों में किया है। उदाहरणार्थ, जब महावीर से गौतम ने यह पूछा कि हे भगवन्! जीव नित्य या अनित्य है? तब उन्होंने बताया– हे गौतम! जीव

अपेक्षाभेद से नित्य भी है, पर्यायदृष्टि से अनित्य।[6] इसी प्रकार, एक अन्य प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सोमिल को कहा था – हे सोमिल! द्रव्यदृष्टि से मैं एक हूँ, किन्तु परिवर्तनशील चेतनावस्थाओं (पर्यायों) की अपेक्षा से मैं अनेक भी हूँ।[7] वस्तुतत्त्व के इस अनन्तधर्मात्मिक एवं अनेकान्तिक स्वरूप का यह प्रतिपादन उक्त आगम में बहुत ही विस्तार के साथ हुआ है, किन्तु लेख की मर्यादा को दृष्टिगत रखते हुए उपर्युक्त एक–दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

वस्तुतत्त्व की यह अनन्तधर्मात्मकता तथा उसमें विरोधी धर्मयुगलों की एक साथ उपस्थिति अनुभव–सिद्ध है। एक ही आम्रफल खट्टा और मधुर (खट्टा–मीठा)–दोनों ही हो सकता है। पितृत्व और पुत्रत्व के दो विरोधी गुण अपेक्षा–भेद से एक ही व्यक्ति में एक ही समय में साथ–साथ सिद्ध हो सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि जिन्हें हम विरोधी धर्म–युगल मान लेते हैं, उनमें सर्वथा या निरपेक्ष रूप से विरोध नहीं है। अपेक्षा भेद से उनका एक ही वस्तुतत्त्व में एक ही समय में होना सम्भव है। भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से एक ही व्यक्ति छोटा या बड़ा कहा जा सकता है, अथवा एक ही वस्तु ठण्डी या गरम कही जा सकती है। जो संखिया जनसाधारण की दृष्टि से विष है, प्राणापहारी है, वही एक वैद्य की दृष्टि में औषधि या जीवन–संजीवनी भी है। अतः, यह एक अनुभवजन्य सत्य है कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्मयुगलों की उपस्थिति देखी जाती है। यहाँ हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्मयुगलों की उपस्थिति नहीं है। इस संबंध में धवला का निम्न कथन दृष्टव्य है–'यदि वस्तु में सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाए, तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य, अचैतन्य, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग आ जावेगा।[8]' अतः, यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि वस्तु में केवल वे ही विरोधी धर्मयुगल युगपत् रूप में रह सकते हैं, जिनका उस वस्तु में अत्यन्ताभाव नहीं है, किन्तु इस बात से वस्तुतत्व का अनन्तधर्मात्मक स्वरूप खण्डित नहीं होता है और वस्तुतत्त्व में नित्यता–अनित्यता, एकत्व–अनेकत्व, अस्तित्व–नास्तित्व, भेदत्व–अभेदत्व आदि अनेक विरोधी धर्मयुगलों की युगपत् उपस्थिति मानी जा सकती है। आचार्य अमृतचंद्र 'समयसार' की टीका में लिखते हैं कि अपेक्षाभेद से जो है, वही नहीं भी है, जो सत् है, वह असत् भी है, जो एक है, वह अनेक भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है।[9] वस्तु एकान्तिक न होकर अनेकान्तिक है। आचार्य हेमचन्द्र

अन्ययोग–व्यवच्छेदिका में लिखते हैं कि विश्व की समस्त वस्तुएं स्याद्वाद की मुद्रा से युक्त हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।[10] यद्यपि वस्तुतत्त्व का यह अनन्तधर्मात्मक एवं अनेकान्तिक स्वरूप हमें असमंजस में डाल देता है, किन्तु यदि वस्तु स्वभाव ऐसा ही है, तो हम क्या करें? बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति के शब्दों में 'यदिदं स्वयर्थेभ्यो रोचते के वयं?' पुनः, हम जिस वस्तु या द्रव्य की विवेचना करना चाहते हैं, वह है क्या? जहां एक ओर द्रव्य को गुण और पर्यायों का आश्रय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसे गुणों का समूह भी कहा गया है। गुण और पर्यायों से पृथक् द्रव्य की कोई सत्ता ही नहीं है और द्रव्य से पृथक् गुण और पर्यायों की कोई सत्ता नहीं है। यह है वस्तु की सापेक्षिकता और यदि वस्तुतत्त्व सापेक्षिक, अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तिक है, तो फिर उसका ज्ञान एवं उसकी विवेचना निरपेक्ष एवं एकान्तिक दृष्टि से कैसे सम्भव है? इसलिए जैन आचार्यों का कथन है कि (अनन्तधर्मात्मक) मिश्रित तत्त्व की विवेचना बिना अपेक्षा से सम्भव नहीं है।

(ब) मानवीय ज्ञान–प्राप्ति के साधनों का स्वरूप

यह तो हुई वस्तु स्वरूप की बातें, किन्तु जिस वस्तु स्वरूप का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए हमारे पास साधन क्या हैं? हमें उन साधनों के स्वरूप एवं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। मनुष्य के पास अपनी सत्याभीप्सा और जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए ज्ञान प्राप्ति के दो साधन हैं–

1. इंद्रियां और 2. तर्कबुद्धि

मानव अपने इन्हीं सीमित साधनों द्वारा वस्तुतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है। जहां तक मानव के ऐन्द्रिक ज्ञान का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि ऐन्द्रिक ज्ञान न पूर्ण है और न निरपेक्ष। मानव इन्द्रियों की क्षमता सीमित है, अतः वे वस्तुतत्त्व का जो भी स्वरूप जान पाती हैं, वह पूर्ण नहीं हो सकता है। इंद्रियां वस्तु को अपने पूर्ण स्वरूप में देख पाने के लिए सक्षम नहीं हैं। यहां हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम वस्तुतत्त्व को जिस रूप में वह है वैसा नहीं जानकर उसे जिस रूप में इंद्रियां हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं, उसी रूप में जानते हैं। हम इंद्रिय संवेदनों को जान पाते हैं, वस्तुतत्त्व को नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा आनुभाविक ज्ञान इंद्रिय सापेक्ष है। मात्र इतना ही नहीं, वह इंद्रिय सापेक्ष होने के साथ–साथ उन कोणों पर भी निर्भर रहता है, जहां से वस्तु देखी जा रही है और

यदि हम उस कोण या स्थिति के विचार को अपने ज्ञान से अलग करते हैं, तो निश्चित ही हमारा ज्ञान भ्रांत हो जाएगा। उदाहरणार्थ–एक गोल सिक्का अपने अनेक कोणों से हमें वृत्ताकार न लगकर अण्डाकार दिखाई देता है। विभिन्न गुरुत्वाकर्षणों एवं विभिन्न शारीरिक स्थितियों से एक ही वस्तु हल्की या भारी प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी को जब हम उसके गुरुत्वाकर्षण की सीमा से ऊपर जाकर देखते हैं, तो गतिशील दिखाई देती है, किन्तु पृथ्वी तल पर हमें स्थिर प्रतीत होती है। दूर से देखने पर वस्तु छोटी और पास में देखने से बड़ी दिखाई देती है। एक टेबल के जब विविध कोणों के फोटो लिए जाते हैं, तो वे परस्पर भिन्न–भिन्न होते हैं। इस प्रकार, हमारा सारा आनुभाविक ज्ञान सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं। इंद्रिय संवेदनाओं को उन सब अपेक्षाओं (conditions) से अलग हटकर नहीं समझा जा सकता है, जिसमें कि वे हुए हैं। अतः ऐन्द्रिकज्ञान दिक्, काल और व्यक्ति सापेक्ष है।

किन्तु, मानव मन कभी भी इंद्रियानुभूति या प्रतीति के ज्ञान को ही अंतिम सत्य मानकर संतुष्ट नहीं होता। वह उस प्रतीति के पीछे भी झांकना चाहता है। इस हेतु वह अपनी तर्कबुद्धि का सहारा लेता है, किन्तु क्या तार्किक ज्ञान निरपेक्ष हो सकता है? प्रथम तो तार्किक ज्ञान भी पूरी तरह से इंद्रिय संवेदनों से निरपेक्ष नहीं होता है, दूसरे, तार्किक ज्ञान वस्तुतः एक संबंधात्मक ज्ञान है। बौद्धिक चिंतन कारण और कार्य, एक–अनेक, अस्ति–नास्ति आदि विचारधाराओं से घिरा हुआ है और अपनी इन विचार विधाओं के आधार पर वह सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। तर्कबुद्धि जब भी किसी वस्तु के स्वरूप का निश्चय कर कोई निर्णय प्रस्तुत करती है, तो वह हमें दो तथ्यों के बीच किसी संबंध या असंबंध की ही सूचना प्रदान करती है और ऐसा संबंधात्मक ज्ञान, संबंध सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं, क्योंकि सभी संबंध (Relation) सापेक्ष होते हैं।

(स) मानवीय ज्ञान की सीमितता एवं सापेक्षता

वस्तुतः, वस्तुतत्त्व का यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान सीमित क्षमता वाले मानव के लिए सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा पाए हैं और जब इस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है, तो वह सत्य, सत्य न रहकर असत्य बन जाता है। वस्तुतत्त्व केवल उतना ही नहीं है जितना कि हम उसे जान पा रहे हैं। मनुष्य की ऐन्द्रिक ज्ञान क्षमता एवं तर्कबुद्धि

इतनी अपूर्ण है कि वह सम्पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती। साधारण मानव-बुद्धि पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती, अतः साधारण मानव पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। जैन दृष्टि के अनुसार सत्य अज्ञेय तो नहीं है, किन्तु बिना पूर्णता को प्राप्त किए उसे पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा था कि 'हम केवल सापेक्षिक सत्य को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य को तो कोई पूर्ण दृष्टा ही जान सकेगा।[12] 'और ऐसी स्थिति में जबकि हमारा समस्त ज्ञान आंशिक, अपूर्ण और सापेक्षिक है, हमें यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि मेरी दृष्टि ही एकमात्र सत्य है और सत्य मेरे पास ही है। हमारा आंशिक, अपूर्ण और सापेक्षिक ज्ञान निरपेक्ष सत्यता का दावा नहीं कर सकता, अतः ऐसे ज्ञान के लिए हमें ऐसी कथन पद्धति की योजना करनी होगी, जो कि दूसरों के अनुभूत सत्यों का निषेध नहीं करते हुए अपनी बात कह सके। हम अपने ज्ञान की सीमितता के कारण अन्य सम्भावनाओं (possibilities) को निरस्त नहीं कर सकते हैं।

क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष होता है?

यद्यपि जैन दर्शन में यह माना गया है कि सर्वज्ञ या केवली सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है? इस संदर्भ में जैन दार्शनिकों में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ समकालीन जैन विचारक सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष मानते हैं, जबकि दूसरे कुछ विचारकों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। श्री दलसुखभाई मालवणिया ने 'स्याद्वाद मंजरी' की भूमिका में सवज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष सत्य बताया है, जबकि मुनि श्री नागराजजी ने 'जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान' नामक पस्तिका में यह माना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने भर को ही निरपेक्ष है, क्योंकि स्यादस्ति स्यान्नास्ति से परे वह भी नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहां तक सर्वज्ञ के वस्तु जगत् के ज्ञान का प्रश्न है उसे निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके ज्ञान का विषय अनंतधर्मात्मक वस्तु है। अतः, सवज्ञ भी वस्तुतत्त्व के अनन्त गुणों को अनन्त अपेक्षाओं से ही जान सकता है। वस्तुगत ज्ञान या वैषयिक ज्ञान (objective knowledge) कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का ही क्यों न हो? इसीलिए जैन-आचार्यों का कथन है कि दीप से लेकर व्योम तक वस्तु मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है, किन्तु हमें यह ध्यान

रखना होगा कि जहां तक सर्वज्ञ के आत्मबोध का प्रश्न है, वह निरपेक्ष हो सकता है, क्योंकि वह विकल्प रहित होता है। सम्भवतः, इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा था कि व्यवहार दृष्टि से सर्वज्ञ सभी द्रव्यों को जानता है, किन्तु परमार्थतः तो वह आत्मा को ही जानता है। वस्तुस्थिति यह है कि सर्वज्ञ का आत्मबोध तो निरपेक्ष होता है, किन्तु उसका वस्तु विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है।

(द) भाषा की अभिव्यक्ति– सामर्थ्य की सीमितता और सापेक्षता

सर्वज्ञ या पूर्णज्ञ के लिए भी, जो सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, सत्य का निरपेक्ष कथन या अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण सत्य को चाहे जाना जा सकता हो, किन्तु कहा नहीं जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है, तो वह सापेक्षिक बन जाता है, क्योंकि सर्वज्ञ को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसी भाषा का सहारा लेना होता है, जो कि सीमित एवं अपूर्ण है, 'है' और 'नहीं' की सीमा से घिरी हुई है। अतः, भाषा पूर्ण सत्य को निरपेक्षतया अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

प्रथम तो वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, जबकि मानवीय भाषा की शब्द संख्या सीमित है। जितने वस्तु धर्म हैं, उतने शब्द नहीं हैं, अतः अनेक धर्म अनुक्त या अकथित रहेंगे ही। पुनः मानव की जितनी अनुभूतियां हैं, उन सबके लिए भी भाषा में पृथक्–पृथक् शब्द नहीं हैं। हम गुड़, शकर, आम आदि की मिठास को भाषा में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि सभी की मिठास के लिए अलग–अलग शब्द नहीं हैं। आचार्य नेमिचंद्र 'गोम्मटसार' में लिखते हैं कि हमारे अनुभूत भावों का केवल अनन्तवां भाग ही कथनीय होता है और जितना कथनीय है, उसका भी एक अंश ही भाषा में निबद्ध करके लिखा जाता है (गोम्मटसार, जीवकांड 334)। चाहे निरपेक्ष ज्ञान को सम्भव भी मान लिया जाए, किन्तु निरपेक्ष कथन तो कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी कहा जाता है, वह किसी न किसी संदर्भ में (in a certain context) कहा जाता है और इस संदर्भ में ही उसे ठीक प्रकार से समझा जा सकता है, अन्यथा भ्रांति होने की संभावना रहती है, इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि जगत् में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह सब किसी विवक्षा या नय से गर्भित होता है। जिन या सर्वज्ञ की वाणी भी अपेक्षारहित नहीं होती है। वह सापेक्ष ही होती है। अतः, वक्ता का कथन समझने के लिए भी अपेक्षा का विचार आवश्यक है।

पुनश्च, जब वस्तुतत्त्व में अनेक विरुद्ध धर्म युगल में रहे हुए हैं, तो शब्दों द्वारा उनका एक साथ प्रतिपादन सम्भव नहीं है। उन्हें क्रमिक रूप में ही कहा जा सकता है। शब्द एक समय में एक ही धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के समस्त धर्मों का एक साथ कथन भाषा की सीमा से बाहर है, अतः किसी भी कथन में वस्तु के अनेक धर्म अनुक्त या अकथित ही रह जाएंगे और एक निरपेक्ष कथन अनुक्त धर्मों का निषेध करने के कारण असत्य हो जाएगा। हमारा कथन सत्य रहे और हमारे वचन–व्यवहार से श्रोता को कोई भ्रांति न हो, इसलिए सापेक्षिक कथन पद्धति ही समुचित कही जा सकती है। जैनाचार्यों ने स्यात् को सत्य का चिह्न [13] इसीलिए कहा है कि वह अपेक्षापूर्वक कथन करके हमारे कथन को अविरोधी और सत्य बना देता है तथा श्रोता को कोई भ्रांति भी नहीं होने देता है।

स्याद्वाद और अनेकान्त

साधारणतया, अनेकान्त और स्याद्वाद पर्यायवाची माने जाते हैं।[14] अनेक जैनाचार्यों ने इन्हें पर्यायवाची बताया भी है, किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। अनेकान्त स्याद्वाद की अपेक्षा अधिक व्यापक द्योतक है। जैनाचार्यों ने दोनों में व्यापक–व्याप्य भाव माना है। अनेकान्त व्यापक है और स्याद्वाद व्याप्य। अनेकान्त वाच्य है, तो स्याद्वाद वाचक। अनेकान्त वस्तु स्वरूप है, तो स्याद्वाद उस अनेकान्तिक वस्तु स्वरूप के कथन की निर्दोष भाषा पद्धति। अनेकान्त दर्शन है, तो स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग।

विभज्यवाद और स्याद्वाद

विभज्यवाद, स्याद्वाद का ही एक अन्य पर्यायवाची एवं पूर्ववर्ती है। सूत्रकृतांग में महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह स्पष्ट निर्देश दिया है कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें।[15] इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में स्पष्ट रूप से कहा था कि हे माणवक! मैं विभज्यवादी हूँ, एकान्तवादी नहीं। विभज्यवाद वह सिद्धान्त है, जो प्रश्न को विभाजित करके उत्तर देता है। जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि गृहस्थ एवं त्यागी यदि मिथ्यावादी हैं, तो आराधक नहीं हो सकते, किन्तु यदि दोनों ही सम्यक् आचरण करने वाले हैं, तो दोनों

ही आराधक हो सकते हैं।[16] इसी प्रकार, जब महावीर से जयंती ने यह पूछा कि 'सोना अच्छा है या जागना?' तो उन्होंने कहा था कि कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्माओं का जागना।[17] इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वक्ता को प्रतिपक्ष के प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देना विभज्यवाद है। प्रश्नों के उत्तरों की यह विश्लेषणात्मक शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा वस्तु के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है। इससे वक्ता का विश्लेषण एकांगी नहीं बनता है। बुद्ध और महावीर का यह विभज्यवाद ही आगे चलकर शून्यवाद और स्याद्वाद में विकसित हुआ है।

शून्यवाद और स्याद्वाद[18]

भगवान् बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद– इन दोनों को अस्वीकार किया और अपने मार्ग को मध्यम मार्ग कहा, जबकि भगवान् महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अपेक्षाकृत रूप से स्वीकृत करके एक विधिमार्ग अपनाया। भगवान् बुद्ध की परम्परा में विकसित शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित स्याद्वाद– दोनों का ही लक्ष्य एकान्तिक दार्शनिक विचारधाराओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहां शून्यवाद एक निषेधप्रधान दृष्टि है, वहीं स्याद्वाद में एक विधायक दृष्टि है। शून्यवाद जो बात संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में कहता है, वही बात जैन दार्शनिक व्यवहार और निश्चय नय के आधार पर प्रतिपादित करता है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद अपने निष्कर्षों के संबंध में है। शून्यवाद अपने निष्कर्षों में निषेधात्मक होता है और स्याद्वाद विधानात्मक। शून्यवाद अपनी सम्पूर्ण तार्किक विवेचना में इस निष्कर्ष पर आता है कि वस्तुतत्त्व शाश्वत नहीं है, उच्छिन्न नहीं है, एक नहीं है, अनेक नहीं है, सत् नहीं है, असत् नहीं है, जबकि स्याद्वाद अपने निष्कर्षों को विधानात्मक रूप से प्रस्तुत करता है कि वस्तु शाश्वत भी है, अशाश्वत भी है, एक भी है, अनेक भी है, सत् भी है, असत् भी है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी– दोनों ही देखते हैं। इस एकान्त के दोष से बचने की तत्परता में शून्यवाद द्वारा प्रस्तुत शून्यता– शून्यता की धारणा और स्याद्वाद द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त की अनेकान्तता की धारणा भी विशेष रूप से दृष्टव्य है।

सप्तभंगी

सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि–निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है। 'है' और 'नहीं है'– हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं, किन्तु कभी–कभी हम अपनी बात को स्पष्टतया 'है' (विधि) और 'नहीं है' (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं, अर्थात् सीमित शब्दावली की यह भाषा हमारी अनुभूति को प्रकट करने में असमर्थ होती है। ऐसी स्थिति में हम एक तीसरे विकल्प 'अवाच्य' या 'अवक्तव्य' का सहारा लेते हैं, अर्थात् शब्दों के माध्यम से 'है' और 'नहीं है' की भाषायी सीमा में बांधकर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्यता से जो सात प्रकार के वचन विन्यास बनते हैं, उसे सप्तभंगी कहा जाता है।[19] सप्तभंगी में स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अवक्तव्य – ये तीनों असंयोगी मौलिक भंग हैं। शेष चार भंग इन तीनों के संयोग से बनते हैं। उनमें स्यात् अस्ति–नास्ति, स्यात् अस्ति–अवक्तव्य और स्यात् नास्ति–अवक्तव्य ये तीन द्विसंयोगी और अंतिम स्यात–अस्ति–नास्ति–अव्यक्तव्य यह त्रिसंयोगी भंग है। निर्णयों की भाषायी अभिव्यक्ति विधि, निषेध और अवक्तव्य– इन तीन ही रूप में होती है। अतः उससे तीन ही मौलिक भंग बनते हैं और इन तीन मौलिक भंगों में से गणितशास्त्र के संयोग के नियम के आधार पर सात भंग बनते हैं, न कम, न अधिक। अष्टसहस्री टीका में आचार्य विद्यानंद ने इसीलिए यह कहा है कि जिज्ञासा और संशय और उनके समाधान सप्त प्रकार के हो सकते हैं। अतः, जैन आचार्यों की सप्तभंगी की यह व्यवस्था निर्मूल नहीं है। वस्तुतत्त्व के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक को लेकर एक–एक सप्तभंगी और इस प्रकार अनन्त सप्तभंगियां तो बनाई जा सकी हैं किन्तु अनन्तभंगी नहीं। श्वेताम्बर आगम भगवतीसूत्र में षट्प्रदेशी स्कंध के संबंध में जो 23 भंगों की योजना है, वह वचन–भेद–कृत संख्याओं के कारण है। उसमें भी मूल भंग सात ही हैं।[20] पंचास्तिकाय और प्रवचनसार आदि प्राचीन दिगम्बर आगम ग्रंथों में और शेष परवर्ती साहित्य में सप्तभंगी ही मान्य रहे हैं। अतः, विद्वानों को इन भ्रमों का निवारण कर लेना चाहिए कि ऐसे संयोगों से सप्तभंगी ही क्यों अनन्त भंगी भी हो सकती है अथवा आगमों में सात भंग नहीं हैं। सप्तभंगी भी एक परवर्ती विकास है।

सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक निर्णय प्रस्तुत करता है। सप्तभंगी में स्यात् अस्ति आदि जो सात भंग हैं, वे कथन के तार्किक आकार हैं, उसमें स्यात् शब्द कथन की

सापेक्षिकता का सूचक है और अस्ति एवं नास्ति कथन के विधानात्मक और निषेधात्मक होने के सूचक हैं। कुछ जैन विद्वान् अस्ति को सत्ता की भावात्मकता का और नास्ति को अभावात्मकता का सूचक मानते हैं किन्तु यह दृष्टिकोण जैन दर्शन को मान्य नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, जैन दर्शन में आत्मा भाव रूप है, वह अभाव रूप नहीं हो सकता है, अतः, हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति अपने आपमें कोई कथन नहीं है, अपितु कथन के तार्किक आकार हैं, वे कथन के प्रारूप हैं। उन प्रारूपों के लिए अपेक्षा तथा उद्देश्य और विधेय पदों का उल्लेख आवश्यक है, जैसे स्याद् अस्ति भंग का ठोस उदाहरण होगा–द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है। यदि हम इसमें अपेक्षा (द्रव्यता) और विधेय (नित्यता) का उल्लेख नहीं करें और कहें कि स्याद् आत्मा है,तो हमारा कथन भ्रमपूर्ण होगा। अपेक्षा और विधेय पद के उल्लेख के अभाव में सप्तभंगी के आधार पर किए गए कथन अनेक भ्रांतियों को जन्म देते हैं, जिसका विशेष विवेचन हमने द्वितीय भंग की चर्चा के प्रसंग में किया है। आधुनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक कथन है, जिसे एक हेतुफलाश्रित वाक्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सप्तभंगी के प्रसंग में उत्पन्न भ्रांतियों से बचने के लिए उसे निम्न सांकेतिक रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

सप्तभंगी के इस सांकेतिक प्रारूप के निर्माण में हमने चिह्नों का प्रयोग उनके सामने दर्शित अर्थों में किया है–

चिन्ह	**अर्थ**
⊃	यदि–तो (हेतुफलाश्रित कथन)
अ	अपेक्षा (दृष्टिकोण)
•	संयोजन (और)
य	युगपत् (एकसाथ)
∞	अनन्तत्त्व
~	व्याघातक
उ	उद्देश्य
वि	विधेय

भंगों के आगमिक रूप	भंगों के सांकेतिक रूप	ठोस उदाहरण
1. स्यात् अस्ति	अ^1 ⊃ उ वि है	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं, तो आत्मा नित्य है।
2. स्यात् नास्ति	अ^2 ⊃ उ वि नहीं है	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं, तो आत्मा नित्य नहीं है।
3.स्यात् अस्ति नास्ति च	अ^1 ⊃ उ वि ~ है. अ^2 ⊃ उ वि नहीं है	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं, तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं, तो आत्मा नित्य नहीं है।
4. स्यात् अवक्तव्य	(अ^1.अ^2)^{य} ⊃ उ अवक्तव्य है	यदि द्रव्य और पर्याय–दोनों ही अपेक्षा से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। (क्योंकि दो भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से दो अलग–अलग कथन तो हो सकते हैं, किन्तु एक कथन नहीं हो सकता)
स्यात् अस्ति च अव्यक्तव्य च	अ^1 ⊃ उ वि ~ है. (अ^1.अ^2)^{य} उ अवक्तव्य है अथवा अ^1 ⊃ उ वि X है. (अ∞)^{य} ⊃ उ अवक्तव्य है।	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं, तो आत्मा नित्य है, किन्तु यदि आत्मा की द्रव्य, पर्याय दोनों या अनंत की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।
6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्य च	अ^2 ⊃ उ वि नहीं है, (अ^1.अ^2)^{य} ⊃ उ	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं, तो आत्मा

	अवक्तव्य है अथवा $(अ)^{2} \supset$ उ वि नहीं है $(अ\infty)^{u} \supset$ उ अवक्तव्य है	नित्य नहीं है, किन्तु यदि अपनी अनंत अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं, तो आत्मा अवक्तव्य है।
7. स्यात् अस्ति च, नास्ति च अवक्तव्य च	$अ^{1} \supset$ उ वि है. $(अ)^{2} \supset$ उ वि नहीं है. $(अ\infty)^{u} \supset$ उ अवक्तव्य है अथवा $अ^{1} \supset$ उ वि है. $अ^{2} \supset$ उ वि नहीं है $(अ^{1}.अ^{2})^{u}$ य उ अवक्तव्य है	यदि द्रव्यदृष्टि से विचार करते हैं, तो आत्मा नित्य है और यदि पर्यायदृष्टि से विचार करते हैं, तो आत्मा नित्य नहीं है, किन्तु यदि अपनी अनंत अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।

सप्तभंगी प्रस्तुत सांकेतिक रूप में हमने केवल दो अपेक्षाओं का उल्लेख किया है, किन्तु जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव–ऐसी चार अपेक्षाएं मानी हैं, उसमें भी भाव अपेक्षा व्यापक है। भाव अपेक्षा में वस्तु की अवस्थाओं (पर्यायों) एवं गुणों–दोनों पर विचार किया जाता है। किन्तु यदि हम प्रत्येक अपेक्षा की सम्भावनाओं पर विचार करें, तो ये अपेक्षाएं भी अनन्त होंगी, क्योंकि वस्तुत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। अपेक्षाओं की इन विविध सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार किया जा सकता है, किन्तु इस छोटे से लेख में यह सम्भव नहीं है।

इस सप्तभंगी का प्रथम भंग 'स्याद् अस्ति' है। यह स्वचतुष्टय को अपेक्षा से वस्तु के भावात्मक धर्म या धर्मों का विधान करता है, जैसे– अपने द्रव्य की अपेक्षा से यह घड़ा मिट्टी का है, क्षेत्र की अपेक्षा से इंदौर नगर में बना हुआ है, काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु का बना हुआ है, भाव अर्थात् वर्त्तमान पर्याय की अपेक्षा से लाल रंग का है या घटाकार है आदि। इस प्रकार, वस्तु के स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, एवं भाव की अपेक्षा से उसके भावात्मक गुणों का विधान करना– यह प्रथम 'अस्ति ' नामक भंग का कार्य है। दूसरा

'स्यात् नास्ति' नामक भंग वस्तुतत्त्व के अभावात्मक धर्म या धर्मों की अनुपस्थिति या नास्तित्व की सूचना देता है। वह यह बताता है कि वस्तु में स्व से भिन्न पर-चतुष्टय का अभाव है, जैसे-यह घड़ा ताम्बे का नहीं है, भोपाल नगर से बना हुआ नहीं है, ग्रीष्म ऋतु का बना हुआ नहीं है, कृष्ण वर्ण का नहीं है आदि। मात्र इतना ही नहीं, यह भंग इस बात को भी स्पष्ट करता है कि घड़ा सिर्फ घड़ा है, पुस्तक, टेबल, कलम, मनुष्य आदि नहीं है। जहां प्रथम भंग यह कहता है कि घड़ा, घड़ा ही है, वहां दूसरा भंग यह बताता है कि घड़ा, घट इतर अन्य कुछ नहीं है। कहा गया है कि 'सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च', अर्थात् सभी वस्तुओं की सत्ता स्वरूप से है पररूप से नहीं। यदि वस्तु में अन्य वस्तुओं के गुण धर्मों की सत्ता भी मान ली जाएगी, तो फिर वस्तुओं का पारस्परिक भेद ही समाप्त हो जावेगा और वस्तु का स्व-स्वरूप ही नहीं रह जावेगा, अतः वस्तु में पर-चतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भंग है। प्रथम भंग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भंग यह बताता है कि वस्तु क्या नहीं है। सामान्यतः, इस द्वितीय भंग को 'स्यात् नास्ति घटः' अर्थात् किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है, इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु इसके प्रस्तुतिकरण का यह ढंग थोड़ा भ्रांतिजनक अवश्य है। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रथम भंग में घट के अस्तित्व का जो विधान किया गया था, उसी का द्वितीय भंग में निषेध कर दिया गया है और ऐसी स्थिति में स्याद्वाद को संदेहवाद या आत्मा विरोधी कथन करने वाला सिद्धान्त समझ लेने की भ्रांति हो जाना स्वाभाविक है।

शंकर प्रभृति विद्वानों ने स्याद्वाद की जो आलोचना की थी, उसका मुख्य आधार यही भ्रांति है। 'स्यात् अस्ति घटः' और 'स्यात् नास्ति घटः' में जब स्यात् शब्द को दृष्टि से ओझल कर या उसे सम्भावना के अर्थ में ग्रहण कर 'अस्ति' और 'नास्ति' पर बल दिया जाता है, तो आत्मविरोध का आभास होने लगता है। जहां तक मैं समझ पाया हूँ, स्याद्वाद का प्रतिपादन करने वाले किसी आचार्य की दृष्टि में द्वितीय भंग का कार्य प्रथम भंग में स्थापित किए गए गुणधर्म का उसी अपेक्षा से निषेध करना नहीं है, अपितु या तो प्रथम भंग में अस्ति रूप माने गए गुण धर्म से इतर गुण धर्मों का निषेध करना है, अथवा फिर अपेक्षा को बदलकर उसी गुण धर्म का निषेध करना होता है और इस प्रकार द्वितीय भंग प्रथम भंग के कथन को पुष्ट करता है, खण्डित नहीं। यदि द्वितीय भंग के कथन को उसी अपेक्षा से प्रथम भंग का निषेधक या विरोधी मान लिया जावेगा तो निश्चय ही यह

सिद्धांत संशयवाद या आत्मविरोध के दोषों से ग्रसित हो जावेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि प्रथम भंग में 'स्यादस्त्येव घटः' का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा है ही और द्वितीय भंग में 'स्यान्नास्त्येव घटः' का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा ही नहीं है– ऐसा करेंगे तो आभास होगा कि दोनों कथन विरोधी हैं, क्योंकि इन कथनों के भाषायी स्वरूप से ऐसा आभास होता है कि इन कथनों में घट के अस्तित्व और नास्तित्व को ही सूचित किया गया है। जबकि जैन आचार्यों की दृष्टि में इन कथनों का बल उनमें प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द में ही है, वे यह नहीं मानते हैं कि द्वितीय भंग, प्रथम भंग में स्थापित सत्य का प्रतिषेध करता है। दोनों भंगों में घट के संबंध में जिनका विधान या निषेध किया गया है, वे अपेक्षाश्रित धर्म हैं न कि घट का स्वयं का अस्तित्व या नास्तित्व। पुनः, दोनों भंगों के 'अपेक्षाश्रित धर्म ' एक नहीं हैं, भिन्न–भिन्न हैं। प्रथम भंग में जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का निषेध हुआ है, वे दूसरे अर्थात् पर–चतुष्टय के हैं, अतः प्रथम भंग के विधान और द्वितीय भंग के निषेध में कोई आत्मविरोध नहीं है। मेरी दृष्टि में इस भ्रांति का मूल कारण प्रस्तुत वाक्य में उस विधेय पद के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, जिसका कि विधान या निषेध किया जाता है। यदि 'नास्ति' पद को विधेय स्थानीय माना जाता है, तो पुनः यहां यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जो घट अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाए कि परद्रव्यादि की अपेक्षा से घट नहीं है, तो परद्रव्यादि घट के अस्तित्व के निषेधक कैसे बन सकते हैं?

यद्यपि यहां पूर्वाचार्यों का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे घट का नहीं, अपितु घट में द्रव्यादि का निषेध करना चाहते हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि घट पट नहीं है या घट में पट आदि के धर्म नहीं हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इस कथन में प्रथम और द्वितीय भंग में अपेक्षा नहीं बदली है। यदि प्रथम भंग से यह कहा जावे कि घड़ा मिट्टी का है और दूसरे भंग में यह कहा जावे कि घड़ा पीतल का नहीं है, तो दोनों में अपेक्षा एक ही है, अर्थात् दोनों कथन द्रव्य की या उपादान की अपेक्षा से है। अब दूसरा उदाहरण लें। किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य है, किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य नहीं है। यहां दोनों भंगों में अपेक्षा बदल जाती है। यहां प्रथम भंग में द्रव्य की अपेक्षा से घड़े को नित्य कहा गया और दूसरे भंग में पर्याय की अपेक्षा से घड़े को नित्य नहीं कहा गया है। द्वितीय भंग के प्रतिपादन के ये दोनों रूप भिन्न भिन्न हैं। दूसरे, यह कहना कि परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है या पट की अपेक्षा घट नहीं है, भाषा की दृष्टि से थोड़ा भ्रांतिजनक अवश्य है, क्योंकि परचतुष्टय वस्तु की

सत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। वस्तु में परचतुष्टय अर्थात् स्व-भिन्न पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव तो होता है, किन्तु उनकी अपेक्षा वस्तु का अभाव नहीं होता है। क्या यह कहना कि कुर्सी की अपेक्षा टेबल नहीं है, या पीतल की अपेक्षा यह घड़ा नहीं है, भाषा के अभ्रांत प्रयोग हैं? इस कथन में जैनाचार्यों का आशय तो यही है कि टेबल कुर्सी नहीं है, या घड़ा पीतल का नहीं है। अतः, परचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु नहीं है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना कि वस्तु में परचतुष्टय का अभाव है, भाषा का सम्यक् प्रयोग होगा। विद्वानों से मेरी विनती है कि वे सप्तभंगी के विशेष रूप से द्वितीय एवं तृतीय भंग के भाषा के स्वरूप पर और स्वयं उनके आकारिक स्वरूप पर पुनर्विचार करें और आधुनिक तर्कशास्त्र के संदर्भ में उसे पुनर्गठित करें, तो जैन न्याय के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि होगी, क्योंकि द्वितीय एवं तृतीय भंगों की कथन विधि के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। अतः, यहां द्वितीय भंग के विविध स्वरूपों पर थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। मेरी दृष्टि में द्वितीय भंग के निम्न चार रूप हो सकते हैं-

	चिह्न	अर्थ
1.	प्रथम भंग-अ^{1} नउ वि है, द्वितीय भंग अ^{2}न उ नहीं है	प्रथम भंग में जिस धर्म (विधेय) का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसी धर्म (विधेय) का निषेध कर देना। जैसेः द्रव्यदृष्टि से घड़ा नित्य है, पर्यायदृष्टि से घड़ा नित्य नहीं है।
2.	प्रथम भंग अ^{1}न उ वि है, द्वितीय भंग अ^{2} नउ ब है	प्रथम भंग में जिस धर्म का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर देना है। जैसे - द्रव्यदृष्टि से घड़ा नित्य है।
3.	प्रथम भंग अ^{1}न उ वि है, द्वितीयभंग अ^{2} न उब वि है	प्रथम भंग में प्रतिपादित धर्म को पुष्ट करने हेतु उसी अपेक्षा से द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म या भिन्न धर्म का वस्तु में निषेध कर देना।

		जैसे– रंग की दृष्टि से यह कमीज नीली है, रंग की दृष्टि से यह कमीज पीली है, अथवा अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में चेतना है, अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अचेतन नहीं है, अथवा उपादान की दृष्टि से यह घड़ा मिट्टी का है, उपादान की दृष्टि से यह घड़ा स्वर्ण का नहीं है।
4.	प्रथम भंग अ^{1}न उ है, द्वितीय भंग अ^{2}न उ नहीं है	जब प्रतिपादित कथन देश या काल–दोनों के संबंध में हो, तब देश–काल आदि की अपेक्षा को बदलकर प्रथम भंग में प्रतिपादित कथन का निषेध कर देना, जैसे–27 नवंबर की अपेक्षा मैं यहां पर हूँ। 20 नवंबर की अपेक्षा में यहां पर नहीं था।

द्वितीय भंग के उपर्युक्त चारों रूपों में प्रथम और द्वितीय रूप में बहुत अधिक मौलिक भेद नहीं है, अंतर इतना ही है कि जहां प्रथम रूप में एक ही धर्म का प्रथम भंग में विधान और दूसरे भंग में निषेध होता है, वहां दूसरे रूप में दोनों भंगों में अलग–अलग रूप में दो विरुद्ध धर्मों का विधान होता है। प्रथम रूप की आवश्यकता तब होती है, जब वस्तु में एक ही गुण अपेक्षा भेद से कभी उपस्थित रहे और कभी उपस्थित नहीं रहे, इस रूप के लिए वस्तु में दो विरुद्ध धर्मों के युगल का होना जरूरी नहीं है, जबकि दूसरे रूप का प्रस्तुतिकरण केवल उसी स्थिति में सम्भव होता है, जब वस्तु में धर्म विरुद्ध युगल हो। तीसरा रूप तब बनता है, जब उस वस्तु में प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध धर्म की उपस्थिति ही न हो। चतुर्थ रूप की आवश्यकता तब होती है, जब कि हमारे प्रतिपादन में विधेय का स्पष्ट उल्लेख न हो। द्वितीय भंग के पूर्वोक्त रूपों में प्रथम रूप की अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) वही रहता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है। द्वितीय रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध धर्म (विधेय का व्याघातक पद) होता है और क्रियापद विधानात्मक होता है। तृतीय रूप में अपेक्षा वही रहती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध या विपरीत पद रखा जाता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है

तथा अंतिम चतुर्थ रूप में अपेक्षा बदलती है और प्रतिपादित कथन का निषेध कर दिया जाता है।

सप्तभंगी का तीसरा मौलिक भंग अवक्तव्य है, अतः यह विचारणीय है कि इस भंग की योजना का उद्देश्य क्या है? सामान्यतया यह माना जाता है कि वस्तु में एक ही समय में रहते हुए सत्–असत्, नित्य–अनित्य आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् अर्थात एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द नहीं है, अतः विरुद्ध धर्मों की एक साथ अभिव्यक्ति की शाब्दिक असमर्थता के कारण अवक्तव्य भंग की योजना की गई है, किन्तु अवक्तव्य का यह अर्थ उसका एकमात्र अर्थ नहीं है। यदि हम अवक्तव्य शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं, तो उसके अर्थ में एक विकास देखा जाता है। डॉ.पद्मराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है–

1. पहला, वेदकालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण, जिसमें विश्व के कारण की खोज करते हुए ऋषि उस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहां दोनों पक्षों का निषेध है।
2. दूसरा, औपनिषदिक विधानात्मक दृष्टिकोण, जिसमें सत्, असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है, जैसे – 'तदेजति तन्नेजति', 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' आदि। यहां दोनों पक्षों की स्वीकृति है।
3. तीसरा दृष्टिकोण, जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है। यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में मिलता है, परमतत्त्व को 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'यद्वाचानभ्युदितं, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्योः' आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की अवधारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।
4. चौथा दृष्टिकोण, जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है।

सामान्यतया, अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं–

1. सत् व असत्–दोनों का निषेध करना।
2. सत्, असत् – और सदसत् – तीनों का निषेध करना।
3. सत्, असत्, सत्–असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय)–चारों का

निषेध करना।

4. वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना, अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभव में तो आ सकता है, किन्तु कहा नहीं जा सकता।

5. सत् और असत्–दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।

6. वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है, अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक शब्द नहीं हैं, अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन विचार–परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया, जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत्–दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है, इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अंतिम नहीं कहा जा सकता। आचारांगसूत्र में आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में वचनागोचर कहा गया है, वह विचारणीय है। वहां कहा गया है कि 'आत्मा ध्वन्यात्मक' किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहां वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहां तक पहुंच नहीं है, मति उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता है, क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती है, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान् है। उस अपद का कोई पद नहीं है, अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।'[21] इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुनः, वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता और शब्दसंख्यात की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमिचंद्र ने गोम्मटसार में अनभिलाप्य भाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आए अवक्तव्य भावों का अनन्तवां भाग ही कथन किया जाने योग्य है।[22] अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता

का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार, जैन दर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पांचवें और छठवें अर्थ मान्य रहे हैं, फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्य को स्वीकार करती है, निरपेक्ष की नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है, किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे, तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान–प्रदान का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। अतः, जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह अनिर्वचनीय भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय, क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार, पूर्व निर्दिष्ट पांच अर्थों में से पहले दो को छोड़कर अंतिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है। मेरी दृष्टि में अवक्तव्य भंग का भी एक ही रूप नहीं है। प्रथम तो, 'है' और 'नहीं है' – ऐसे विधि प्रतिषेध का युगपद् (एक साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः अवक्तव्य भंग की योजना है। दूसरे, निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे, अपेक्षाएं अनन्त हो सकती हैं, किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन सम्भव नहीं है, इसलिए भी उसे अवक्तव्य मानना होगा। इसके निम्न तीन प्रारूप हैं–

1. $(\text{अ}^{1}.\text{अ}^{2})^{\text{य}}$ Z उ अवक्तव्य है
2. ~ अ Z उ अवक्तव्य है,
3. $(\text{अ}\infty)^{\text{य}}$ Z उ अवक्तव्य है।

सप्तभंगी के शेष चारों भंग सांयोगिक हैं। विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका महत्व तो अवश्य है, किन्तु इनका अपना कोई स्वतंत्र दृष्टिकोण नहीं है, ये अपने संयोगी मूलभंगों की अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए ही वस्तुस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं। अतः, इन पर यहां विस्तृत विचार अपेक्षित नहीं है।

सप्तभंगी और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र

वर्त्तमान युग में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विचारकों में ल्युसाइविकन ने एक नई दृष्टि दी

है। उसके अनुसार, तार्किक निर्णयों में केवल सत्य, असत्य–ऐसे दो मूल्य ही नहीं होते, अपितु सत्य, असत्य और संभावित सत्य–ऐसे तीन मूल्य होते हैं। इसी संदर्भ में डॉ.एस.एस.बारलिंगे ने जैन न्याय को त्रिमूल्यात्मक सिद्ध करने का प्रयास जयपुर की एक गोष्ठी में किया था। यद्यपि जहां तक जैनन्याय या स्याद्वाद के सिद्धान्त का प्रश्न है, उसे त्रिमूल्यात्मक माना जा सकता है क्योंकि जैनन्याय में प्रमाण, सुनय और दुर्नय–ऐसे तीन क्षेत्र माने गए हैं। इसमें प्रमाण –सुनिश्चित सत्य, सुनय–संभावित सत्य और दुर्नय–असत्यता के परिचायक हैं। पुनः, जैन दार्शनिकों के प्रमाणवाक्य और नयवाक्य–ऐसे दो प्रकार के वाक्य मानकर प्रमाणवाक्य को सकलादेश (सुनिश्चित सत्य या पूर्ण सत्य) कहा है। नयवाक्य को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य। अतः, सत्य और असत्य के मध्य एक तीसरी कोटि आंशिक सत्य या संभावित सत्य मानी जा सकती है। पुनः, वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता एवं स्याद्वाद सिद्धान्त भी सम्भावित सत्यता के समर्थक हैं, क्योंकि वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता अन्य सम्भावनाओं को निरस्त नहीं करती है और स्याद्वाद उस कथित सत्यता के अतिरिक्त अन्य सम्भावित सत्यताओं को स्वीकार करता है।

इस प्रकार, जैन दर्शन की वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता तथा प्रमाण, नय और दुर्नय की धारणाओं के आधार पर स्याद्वाद सिद्धान्त त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (three valued logic) या बहुमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (many valued logic) का समर्थक माना जा सकता है, किन्तु जहां तक सप्तभंगी का प्रश्न है, उसे त्रिमूल्यात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें नास्तिक नामक भंग एवं अवक्तव्य नामक भंग क्रमशः असत्य और अनियतता (indeterminate) के सूचक नहीं हैं। सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सत्य–मूल्य का सूचक है, यद्यपि जैन विचारकों ने प्रमाण–सप्तभंगी और नय–सप्तभंगी के रूप में सप्तभंगी के जो दो रूप माने हैं, उसके आधार पर यहां यह कहा जा सकता है कि प्रमाण–सप्तभंगी के सभी भंग सुनिश्चित सत्यता और नय सप्तभंगी के सभी भंग सम्भावित या आंशिक सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। असत्य का सूचक तो केवल दुर्नय ही है। अतः, सप्तभंगी त्रिमूल्यात्मक नहीं है।

किन्तु, मेरे शिष्य डॉ.भिखारीराम यादव ने अपने प्रस्तुत शोध निबंध में अत्यन्त श्रमपूर्वक सप्तभंगी को सप्तमूल्यात्मक सिद्ध किया है और अपने पक्ष के समर्थन में समकालीन पाश्चात्य तर्कशास्त्र के प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं। आशा है विद्वज्जन उनके इस

प्रयास का सम्यक् मूल्यांकन करेंगे। आज मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मेरे ही शिष्य ने चिंतन के क्षेत्र में मुझसे एक कदम आगे रखा है। हम गुरु–शिष्य में कौन सत्य है या असत्य है, यह विवाद हो सकता है, यह निर्णय तो पाठकों को करना है, किन्तु अनेकांत शैली में अपेक्षाभेद से दोनों भी सत्य हो सकते हैं। वैसे, शास्त्रकारों ने कहा है कि शिष्य से पराजय गुरु के लिए परम आनंद का विषय होता है, क्योंकि वह उसके जीवन की सार्थकता का अवसर है।

स्याद्वाद का लक्ष्य–एक समन्वयात्मक दृष्टि का विकास

(अ) दार्शनिक विचारों के समन्वय का आधार स्याद्वाद–

भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भारत में वैचारिक संघर्ष और दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय 363 और बौद्ध आगमों के अनुसार 62 दार्शनिक मत प्रचलित थे। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, जो विवादों से ऊपर उठने के लिए दिशा निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद पराङ्मुखता को अपनाया। सुत्तनिपात में वे कहते हैं कि मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे कलह एवं अशांति का कारण होता है, अतः निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े।[23] बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित पर–विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों को सदोष बताया और इस प्रकार अपने को किसी भी दार्शनिक मान्यता के साथ नहीं बांधा। वे कहते हैं कि पंडित किसी दृष्टि या वाद में नहीं पड़ता।[24] बुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक वादविवाद निर्वाण मार्ग के साधक के कार्य नहीं हैं। अनासक्त मुक्त पुरुष के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता।[25] इसी प्रकार, भगवान् महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं समझा। उन्होंने भी कहा कि आग्रह, मतान्धता या एकांगी दृष्टि उचित नहीं है। जो लोग अपने की प्रशंसा और दूसरों की निंदा करने में ही पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार–चक्र में घूमते रहते हैं।[26] इस प्रकार, भगवान् महावीर व बुद्ध–दोनों ही उस युग की आग्रह वृत्ति एवं मतान्धता से जनमानस को मुक्त करना चाहते थे, फिर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में थोड़ा अंतर था। जहां बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे थे, वहीं महावीर इनके समन्वय की

एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे, जिसका परिणाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद विविध दार्शनिक एकान्तवादी में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में नित्यवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, भेदवाद-अभेदवाद आदि सभी वस्तुस्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है, किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। यदि इनको कोई असत्य बनाता है, तो वह आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने का उनका आग्रह ही है। स्याद्वाद अपेक्षा भेद में इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। यदि हमारी दृष्टि अपने को आग्रह के ऊपर उठाकर देखे, तो हमें सत्य का दर्शन हो सकता है। सत्य का सच्चा प्रकाश केवल अनाग्रही को ही मिल सकता है। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम का जीवन स्वयं इसका एक प्रत्यक्ष साक्ष्य है। गौतम के केवल ज्ञान में आखिर कौन सा तत्त्व बाधक बन रहा था। महावीर ने स्वयं इसका समाधान करते हुए गौतम से कहा था- हे गौतम! तेरा मेरे प्रति जो समत्व है, वही तेरे केवलज्ञान (सत्य दर्शन) का बाधक है। महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में रहकर नहीं किया जा सकता। आग्रहबुद्धि या दृष्टिराग सत्य को असत्य बना देता है। सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है, विरोध में नहीं, समन्वय में होता है। सत्य का साधक अनाग्रही और वीतरागी होता है, उपाध्याय यशोविजयजी स्याद्वाद की इसी अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अध्यात्मसार में लिखते हैं-

यस्य सर्वत्र समता नयेषु, तनयेष्विव,
तस्यानेकांतवादस्य क्व, न्यूनाधिकशेमुषी
तेन स्याद्वामालंव्य सर्वदर्शन तुल्यताम्।
मोक्षोद्देविशेषण यः पश्यति सः शास्त्रवित्।।
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्धयति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्वालिश वल्गनम्।।
माध्यस्थसहितं ह्योकपदज्ञानमापि प्रमा।
शास्त्रकोटिवृथैवान्या तथा चौक्तं महात्मना।।

-अध्यात्मोपनिषद्-61,70-72

सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सभी दृष्टिकोण (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जैसे–कोई पिता अपने पुत्र को, क्योंकि अनेकान्तवादी को न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी तो वही है, जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में, माध्यस्थभाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। मध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद पर ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है, क्योंकि जहां आग्रह बुद्धि होती है वहां विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन सम्भव नहीं होता। वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, हेतुवाद, अहेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद आदि जितने भी दार्शनिक मत–मतान्तर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिए गए चित्र हैं और आपेक्षिक रूप से सत्य हैं, द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय किया जा सकता है। अतः, एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है। परमयोगी आनंदघनजी लिखते हैं –

षट् दरसण जिन अंग भणीजे, न्याय षडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षटदर्शन आराधे रे।।1।।

जिन सुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करता, लही दुय अंग अखेदे रे।।2।।

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे।।3।।

लोकायतिक सुख कूख जिनवर की, अंश विचार जो कीजे।
तत्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम बिण केम पीजे।।4।।

जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे।।5।।

(ब) राजनीतिक क्षेत्र में स्याद्वाद के सिद्धान्त का उपयोग

अनेकान्त का सिद्धान्त न केवल दार्शनिक अपितु राजनीतिक विवाद भी हल करता है। आज का राजनीतिक जगत् भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद,

साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद जैसी अनेक राजनीतिक विचारधाराएं तथा राजतंत्र, कुलतंत्र, अधिनायक तंत्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियां वर्त्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं उनमें से प्रत्येक एक दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनीतिक संघर्ष आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिक संघर्ष है। आज अमेरिका और रूस अपनी वैचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक दूसरे को नाम–शेष करने की उनकी यह महत्वाकांक्षा कहीं मानव जाति को ही नाम शेष न कर दे।

आज के राजनीतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय का अत्यन्त उपादेय है। मानव जाति ने राजनीतिक जगत् में, राजतंत्र से प्रजातंत्र तक की जो लंबी यात्रा तय की है, उसकी सार्थकता स्याद्वाद दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है, इस विचारदृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातंत्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनीतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र (पार्लियामेंट्री डेमोक्रेसी) वस्तुतः राजनीतिक स्याद्वाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथासम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहां भारत स्याद्वाद का सृजक है, वहीं राजनीतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र का समर्थक भी है, अतः आज स्याद्वाद सिद्धान्त को व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है। इसी प्रकार, हमें यह भी समझना है कि राज्य–व्यवस्था का मूल लक्ष्य जनकल्याण है, अतः जनकल्याण को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के मध्य एक सांग संतुलन स्थापित करना है। आवश्यकता सैद्धांतिक विवादों की नहीं, अपितु जनहित से संरक्षण एवं मानव की पाशविक वृत्तियों के नियंत्रण की है।

(स) अनेकांत धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में

सभी धर्म साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता है, तो बौद्ध धर्म की साधना का लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है। वहीं, वेदांत में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है, लेकिन क्या एकांत या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं दोषरूप नहीं हैं और जब तक वे उपस्थित हैं, धार्मिक भावना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया, उनके लिए आग्रह या एकांत वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है, तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकांत की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः, धर्म का आविर्भाव मानव जाति में शांति और सहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, लेकिन आज वही धर्म मनुष्य–मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में 'धर्म' नहीं, किन्तु धर्म का आवरण डाल कर मानव की महत्वाकांक्षा, उसका अहंकार ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म नहीं, धर्म का नकाब डाले अधर्म है।

मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेकांतिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी। साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है, जबकि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधना रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है– समत्व लाभ (समाधि) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य शांति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग–द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण, लेकिन राग–द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्या हों? यहीं विचार–भेद प्रारम्भ होता है। लेकिन यह विचार–भेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर

उन्मुख होने से वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खींची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु यथार्थ में होता नहीं है, क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है, किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है, वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य एकता में ही साधना रूप धर्मों की अनेकता स्थित है। यदि धर्मों का साध्य एक है, तो उनमें विरोध कैसा? अनेकांत धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधनापरक अनेकता को इंगित करता है। विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधनों के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देशकालगत परिस्थितियों और साधक की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में विभिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी, किन्तु मनुष्य को अपने धर्माचार्य के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने अपने-अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एकमात्र एवं अंतिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप, विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ। मुनिश्री नेमीचंदजी ने धर्म सम्प्रदायों के उद्‌भव की एक सजीव व्याख्या प्रस्तुत की है। वे लिखते हैं कि 'मनुष्य स्वभाव बड़ा विचित्र है, उसके अहं को जरा सी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो सकता है।' यद्यपि वैयक्तिक अहं धर्म-सम्प्रदायों के निर्माण का कारण अवश्य हैं, लेकिन वही एकमात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देशकालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परम्पराओं में आई हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। उनके अनुसार सम्प्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं -

1. ईर्ष्या के कारण, 2. किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण, 3. किसी वैचारिक मतभेद (मताग्रह) के कारण, 4. किसी आचार संबंधी नियमोपनियम में भेद के कारण, 5. किसी व्यक्ति या पूर्व सम्प्रदाय द्वारा अपमान या खींचतान होने के कारण, 6. किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि में, 7. किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपर्युक्त कारणों में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभांति जानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में ज़घन्य दुष्कृत्य कराए हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्तप्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शांतिप्रदाता धर्म ही अशांति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का मुख्य कारण यह भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है, किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक अनाग्रही हो, तो उसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकान्त विचार–दृष्टि विभिन्न धर्म–सम्प्रदायों की समाप्ति द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है, क्योंकि वैयक्तिक रुचि भेद एवं क्षमता भेद तथा देशकालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्म एवं विचार सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत और अव्यावहारिक ही नहीं, अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है, लेकिन इनके लिए प्राथमिक आवश्यकता है–धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समभाव की।

अनेकांत के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहिष्णुता तो सर्वविदित ही है। अपने ग्रंथ शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद, न्यायदर्शन के ईश्वर कर्त्तृत्ववाद और वेदांत के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। अपने ग्रंथ लोकतत्त्वसंग्रह में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं –

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः।।

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्कसंगत हों उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार, आचार्य हेमचन्द्र ने शिव–प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्व देव समभाव का परिचय देते हुए कहा था–

भवबीजांकुरजनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै।।

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं, उसे मैं प्रणाम करता हूँ,

चाहे वे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों या जिन हों।

(द) पारिवारिक जीवन में स्याद्वाद दृष्टि का उपयोग

कौटुम्बिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शांतिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं– पिता–पुत्र तथा सास–बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभवप्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित होता है, तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है।

यही स्थिति सास–बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जीए जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में व्यतीत किया था, जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृपक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतंत्र जीवन जीए, जैसा वह अपने माता–पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत, श्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः, इसके मूल में जो दृष्टिभेद है, उसे अनेकांत पद्धति से सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के संबंध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें, तो हमें स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है, उसके पहले स्वयं को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से किस ढंग से काम लेना चाहता है, उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक ऐसी दृष्टि है, जिसके अभाव में लोकव्यवहार असंभव है और जिस आधार पर अनेकान्तवाद जगद्गुरु होने का दावा करता है। कहा है–

जेण विणा वि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडई।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतावस्स।।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अनेकांत एवं स्याद्‌वाद के सिद्धान्त दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं, जिससे मानव जाति को संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है। संक्षेप में, अनेकान्त विचार–पद्धति के व्यावहारिक क्षेत्र में तीन प्रमुख योगदान हैं–

1. विवाद पराङ्मुखता या वैचारिक संघर्ष का निराकरण।
2. वैचारिक सहिष्णुता या वैचारिक अनाग्रह (विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन)।
3. वैचारिक समन्वय और एक उदार एवं व्यापक दृष्टि का निर्माण।

बौद्ध आचार दर्शन में वैचारिक अनाग्रह

बौद्ध आचारदर्शन में मध्यम मार्ग की धारणा अनेकान्तवाद की विचारसरणी का ही एक रूप है। इसी मध्यम मार्ग के वैचारिक क्षेत्र में अनाग्रह की धारणा का विकास हुआ है। बौद्ध विचारकों ने भी सत्य को अनेक पहलुओं से युक्त देखा और यह माना कि सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना विद्वत्ता है। थेरगाथा में कहा गया है कि जो सत्य का ही पहलू देखता है, वह मूर्ख है।[27] पण्डित तो सत्य को सौ (अनेक) पहलुओं से देखता है। वैचारिक आग्रह और विवाद का जन्म एकांगी दृष्टिकोण से होता है, एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं और विवाद में उलझते हैं।[28]

बौद्ध विचारधारा के अनुसार आग्रह, पक्ष या एकांगी दृष्टि राग में रत होता है। वह जगत् में कलह और विवाद का सृजन करता है और स्वयं भी आसक्ति के कारण बंधन में पड़ा रहता है। इसके विपरीत, जो मनुष्य दृष्टि, पक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है और न बंधन में। बुद्ध के निम्न शब्द बड़े मर्मस्पर्शी हैं– जो अपनी दृष्टि से दृढ़ाग्रही हो, दूसरे को मूर्ख और अशुद्ध बताने वाला होता है वह स्वयं कलह का आह्वान करता है। किसी धारणा पर स्थित हो, उसके द्वारा वह संसार में विवाद उत्पन्न करता है, जो सभी धारणाओं को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।[29]

मैं विवाद के फल बताता हूँ। एक, यह अपूर्ण या एकांगी होता है, दूसरे, वह विग्रह या अशांति का कारण होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाले यह भी देखकर विवाद न करें। साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियां हैं, पण्डित इन सबमें नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को ग्रहण न करने वाला, आसक्तिरहित वह क्या ग्रहण करे? (लोग) अपने धर्म को परिपूर्ण बताते हैं और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं। इस प्रकार, भिन्न मत वाले ही विवाद करते हैं और अपनी धारणा को सत्य बताते हैं। यदि कोई दूसरे की अवज्ञा (निंदा) करके हीन हो जाए, तो धर्मों में श्रेष्ठ नहीं होता। जो किसी वाद में आसक्त है, वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह किसी दृष्टि को मानता है। विवेकी ब्राह्मण तृष्णा–दृष्टि में नहीं पड़ता। वह तृष्णा–दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। मुनि इस संसार में ग्रंथियों को छोड़कर वादियों में पक्षपाती नहीं होता। अशांतों में शांत वह जिसे अन्य लोग ग्रहण करते हैं, उसकी अपेक्षा करता है, बाद में अनासक्त दृष्टियों से पूर्ण रूप से मुक्त वह धीर संसार में लिप्त नहीं होता। जो कुछ दृष्टि, श्रुति या विचार है, उन सब पर वह विजयी है। पूर्ण रूप से मुक्त, मार–त्यक्त वह संस्कार, उपरति तथा तृष्णारहित है।[30]

इतना ही नहीं, बुद्ध सदाचरण और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में इस प्रकार के वाद–विवाद या वाग्विलास या आग्रह वृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह पक्षाग्रह या वाद–विवाद निर्वाण–मार्ग के पथिक का कार्य नहीं है। यह तो मल्लविद्या है– राजभोग से पुष्ट पहलवान के पास भेजना चाहिए, क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रहा। जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और अपने मत को सत्य बताते हैं, उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहां कोई नहीं है।[31] इस प्रकार, हम देखते हैं कि बुद्ध ने भी महावीर के समान ही दृष्टि राग को अनुपयुक्त माना है और बताया कि सत्य का सम्पूर्ण प्रकटन वहीं होता है, जहां सारी दृष्टियां शून्य हो जाती हैं। यह भी एक विचित्र संयोग है कि महावीर के अन्तेवासी इंद्रभूति के समान ही बुद्ध के अन्तेवासी आनंद को भी बुद्ध के जीवनकाल में अर्हंत पद प्राप्त नहीं हो सका। सम्भवतः, यहां भी यही मानना होगा कि शास्ता के प्रति आनंद का जो दृष्टिराग था, वही उसके अर्हंत होने में बाधा था। इस संबंध में दोनों धर्मों के निष्कर्ष समान प्रतीत होते हैं।

गीता में अनाग्रह

वैदिक परम्परा में भी अनाग्रह का समुचित महत्व और स्थान है। गीता के अनुसार आग्रह की वृत्ति आसुरी वृत्ति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभाव के लोग दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय ले अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हो संसार में प्रवृत्ति करते रहते हैं।[32] इतना ही नहीं, आग्रह का प्रत्यय तप, ज्ञान और धारणा सभी का विकृत कर देता है। गीता में आग्रहयुक्त तप को और आग्रहयुक्त धारणा को तामस कहा है।[33] आचार्य शंकर तो जैन परम्परा के समान वैचारिक आग्रह को मुक्ति में बाधक मानते हैं। विवेकचूड़ामणि में वे कहते हैं कि विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिता, शास्त्र–व्याख्यान की पटुता और विद्वता–यह सब राग का ही कारण हो सकते हैं, मोक्ष का नहीं।[32] शब्दजाल चित्त को भटकाने वाला एक महान वन है। वह चित्तभ्रांति का ही कारण है।[35] आचार्य विभिन्न मत–मतान्तरों से युक्त शास्त्राध्ययन को भी निरर्थक मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि परमतत्त्व का अनुभव नहीं किया तो शास्त्राध्ययन निष्फल है और यदि परमतत्त्व का ज्ञान हो गया, तो शास्त्राध्ययन आवश्यक है।[36] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर की दृष्टि में वैचारिक आग्रह या दार्शनिक मान्यताएं आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं रखतीं। वैदिक नीति–वेत्ता शुक्राचार्य आग्रह को अनुचित और मूर्खता का कारण मानते हुए कहते हैं कि अत्यंत आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि अति सब जगह नाश का कारण है। अत्यन्त दान से दरिद्रता, अत्यन्त लोभ से तिरस्कार और अत्यन्त आग्रह से मनुष्य की मूर्खता परिलक्षित होती है।[37] वर्त्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी वैचारिक आग्रह को अनैतिक माना और सर्वधर्म समभाव के रूप में वैचारिक अनाग्रह पर जोर दिया। वस्तुतः आग्रह सत्य का होना चाहिए, विचारों का नहीं। सत्य का आग्रह तभी तो हो सकता है, जब हम अपने वैचारिक आग्रहों से ऊपर उठें। महात्माजी ने सत्य के आग्रह को तो स्वीकार किया, लेकिन वैचारिक आग्रहों को कभी स्वीकार नहीं किया। उनका सर्वधर्म समभाव का सिद्धान्त इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों की परम्पराओं में अनाग्रह को सामाजिक जीवन की दृष्टि से सदैव महत्व दिया जाता रहा है, क्योंकि वैचारिक संघर्षों से समाज को बचाने का एकमात्र मार्ग अनाग्रह ही है।

वैचारिक सहिष्णुता का आधार : अनाग्रह (अनेकांत-दृष्टि)

जिस प्रकार भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल में वैचारिक संघर्ष उपस्थित थे और प्रत्येक मतवादी अपने को सम्यक्दृष्टि और दूसरे को मिथ्यादृष्टि कह रहा था, उसी प्रकार वर्त्तमान युग में भी वैचारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर है। सिद्धान्तों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची जा रही हैं। कहीं धर्म के नाम पर एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन किया जा रहा है। धार्मिक या राजनीतिक साम्प्रदायिकता जनता के मानस को उन्मादी बना रही है। प्रत्येक धर्मवाद या राजनीतिक वाद अपनी सत्यता का दावा कर रहा है और दूसरे को भ्रांत बता रहा है।इस धार्मिक एवं राजनीतिक उन्माद एवं असहिष्णुता के कारण मानव मानव के रक्त का प्यासा बना हुआ है। आज प्रत्येक राष्ट्र का एवं विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध है। एक ओर प्रत्येक राष्ट्र की राजनीतिक पार्टियां या धार्मिक सम्प्रदाय उसके आंतरिक वातावरण को विक्षुब्ध एवं जनता के पारस्परिक संबंधों को तनावपूर्ण बनाए हुए हैं, तो दूसरी ओर राष्ट्र स्वयं भी अपने को किसी एक निष्ठा से संबंधित कर गुट बना रहे हैं और इस प्रकार विश्व के वातावरण को तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध बना रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं, यह वैचारिक असहिष्णुता सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को विषाक्त बना रही है। पुरानी और नई पीढ़ी के वैचारिक विरोध के कारण आज समाज और परिवार का वातावरण भी अशांत और कलहपूर्ण हो रहा है। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जो लोगों को आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दो ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने इस वैचारिक असहिष्णुता की विध्वंसकारी शक्ति को समझा था और उससे बचने का निर्देश दिया था। वर्त्तमान में भी धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में जो वैचारिक संघर्ष और तनाव उपस्थित हैं, उनका सम्यक् समाधान इन्हीं महापुरुषों की विचारसरणी द्वारा खोजा जा सकता है। आज हमें विचार करना होगा कि बुद्ध और महावीर की अनाग्रह दृष्टि द्वारा किस प्रकार धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक सहिष्णुता को विकसित किया जा सकता है।

***

संदर्भ-

1. वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि।। -आप्तमीमांसा, कारिका 103
2. सर्वथात्वनिषेधकोनैकांतता द्योतकः कथंचिदर्थेस्याच्छब्दो निपातः।
-पंचास्तिकाय, गाथा 14 की अमृतचंद्रकृत टीका
3. स्यादित्यव्ययमनेकांतद्योतकं। - स्याद्वादमंजरी
4. कीदृशं वस्तु ? नाना धर्मयुक्तं विविधस्वभावैः सहितं, कथंचित्
अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्वनित्यत्वानित्यत्व-भिन्नत्व प्रमुखेराविष्टम्
-स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा-टीका शुभचंद्र, 253
5. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्-तत्त्वार्थसूत्र 5-29
6. गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया-दव्वट्ठयाए
सासया भावट्ठयाए असासया-भगवतीसूत्र 7-3-273.
7. भगवतीसूत्र- 1.8-10
8. धवला, खण्ड 1, भाग 1, सूत्र 11, पृष्ठ 11, पृष्ठ 167- उद्धृत-तीर्थंकर महावीर डॉ.भारिल्ल
9. यदेव तत् तदेव अतत् यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत् तदेवासत्, यंदेव नित्यं तदेवानित्यं-समयसार टीका (अमृतचंद्र) परिशिष्ट
10. आदी पमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रा नतिभेदि वस्तु- अन्ययोगव्यवच्छेदिका 5
11. न विवेचयितुं शक्यं विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम्- अभिधानराजेन्द्र कोश खण्ड 4, पृ.1853
12. "We can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer." Quoted in cosmology old and new, P.XIII.
13. स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः.
14. ततःस्याद्वाद अनेकांतवाद-स्याद्वादमंजरी.
15. भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा-सूत्रकृतांग-1/1/4/22
16. मज्झिमनिकाय-सूत्र 99 (उद्धुत- आगमयुग का जैन दर्शन, पृ.53)
17. भगवतीसूत्र-12-2-443
18. देखिए-शून्यवाद और स्याद्वाद नामक लेख,पं. दलसुखभाई मालवणियी, आचार्य

आनंदऋषिजी अभिनंदन ग्रंथ, पृ.265

19. (अ) सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभंगीतिगीयते।–स्याद्वादमंजरी, कारिका 23 की टीका.

(ब) प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी।– राजवार्त्तिक 1–6–5

20. देखें–जैन दर्शन– डॉ.मोहनलाल मेहता, पृ. 300–307

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ

मई तत्थ न गहिया..... उवमा न विज्जइ

अपयस्स पयं नत्थि। – आचारांग–1–5–17

22. पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पानं।

पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदनिबद्धो।.–गोम्मटसार, जीवकाण्ड 334

23. सुत्तनिपात 51–21

24. सुत्तनिपात 51–3

25. सुत्तनिपात 46–8–9

26. सयं सयं पंससंता गरहन्ता परं वयं।

जे उ तत्थ विउस्सयन्ति संसारेते विउस्सया। –सूत्रकृतांग 1–1–2–23

27. थेरगाथा–1 /106

28. उदान–6/4

29. सुत्तनिपात–40/16–17

30. सुत्तनिपात–51/2,3,10,11,16–20

31. वही–46/8–9

32. गीता–16–10

33. वही–17.19, 18/35

34. विवेकचूड़ामणि, 60

35. वही, 62

36. वही, 61

37. शुक्रनीति–3/211–213

12 महावीरकालीन विभिन्न आत्मवाद एवं महावीर के आत्मवाद का वैशिष्ट्य

धर्म और नैतिकता आत्मा संबंधी दार्शनिक मान्यताओं पर अधिष्ठित रहते हैं। किसी भी धर्म एवं उसकी नैतिक विचारणा को उसके आत्मा संबंधी सिद्धान्त के अभाव में समुचित रूप से नहीं समझा जा सकता। महावीर के धर्म एवं नैतिक सिद्धान्तों के औचित्य-स्थापन के पूर्व उनके आत्मवाद का औचित्य स्थापन आवश्यक है, साथ ही, महावीर के आत्मवाद को समझने के लिए उनके समकालीन विभिन्न आत्मवादों का समालोचनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है।

यद्यपि भारतीय आत्मवादों के संबंध में वर्त्तमान युग में श्री ए.सी.मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "The Nature of Self" एवं श्री एस.के. सक्सेना ने अपनी पुस्तक ' Nature of conciousness in Hindu Philosophy" में विचार व्यक्त किया है, लेकिन उन्होंने महावीर के समकालीन आत्मवादों पर समुचित रूप से कोई प्रकाश नहीं डाला है। श्री धर्मानन्द कौशाम्बीजी द्वारा अपनी पुस्तक 'भगवान बुद्ध' में यद्यपि इस प्रकार का लघु प्रयास अवश्य किया गया है, फिर भी इस संबंध में एक व्यवस्थित अध्ययन आवश्यक है।

पाश्चात्य एवं कुछ आधुनिक भारतीय विचारकों की यह मान्यता है कि महावीर एवं बुद्ध के समकालीन विचारकों में आत्मवाद संबंधी कोई निश्चित दर्शन नहीं था। तत्कालीन सभी ब्राह्मण और श्रमण मतवाद केवल नैतिक-विचारणाओं एवं कर्मकाण्डीय व्यवस्थाओं को प्रस्तुत करते थे। सम्भवतः, इस धारणा का आधार तत्कालीन औपनिषदिक-

साहित्य है, जिसमें आत्मवाद संबंधी विभिन्न परिकल्पनाएं, किसी एक आत्मवादी सिद्धान्त के विकास के निमित्त संकलित की जा रही थीं। उपनिषदों का आत्मवाद विभिन्न श्रमण परम्पराओं के आत्मवादी सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से प्रभावित है। उपनिषदों में आत्मा संबंधी परस्पर विपरीत धारणाएं जिस बीज रूप में विद्यमान हैं, वे इस तथ्य की पुष्टि में सबल प्रमाण हैं। हां, इन विभिन्न आत्मवादों को ब्रह्म की धारणा में संयोजित करने का प्रयास उनका अपना मौलिक है।

लेकिन, यह मान लेना कि महावीर अथवा बुद्ध समकालीन विचारकों में आत्मा संबंधी दार्शनिक सिद्धान्त थे ही नहीं, यह एक भ्रांत धारणा है।

मेरी यह स्पष्ट धारणा है कि महावीर के समकालीन विभिन्न विचारकों की आत्मवाद संबंधी विभिन्न धारणाएं विद्यमान थीं। कोई उसे सूक्ष्म कहता था, तो कोई उसे विभु। किसी के अनुसार आत्मा नित्य थी, तो कोई उसे क्षणिक मानता था। कुछ विचारक उसे (आत्मा को) कर्त्ता मानते थे, तो कुछ उसे निष्क्रिय एवं कूटस्थ मानते थे। इन्हीं विभिन्न आत्मवादों की अपूर्णता एवं नैतिक व्यवस्था को प्रस्तुत करने की अक्षमताओं के कारण ही तीन नए विचार सामने आए। एक ओर था– उपनिषदों का सर्व–आत्मवाद या ब्रह्मवाद, दूसरी ओर था– बुद्ध का अनात्मवाद और तीसरी विचारणा थी – जैन आत्मवाद की, जिसने इन विभिन्न आत्मवादों को एक जगह समन्वित करने का प्रयास किया।

इन विभिन्न आत्मवादों की समालोचना के पूर्व इनके अस्तित्व संबंधी प्रमाण प्रस्तुत किए जाने आवश्यक हैं। बौद्ध–पाली–आगम साहित्य, जैन आगम एवं उपनिषदों के विभिन्न प्रसंग इस संदर्भ में कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध–पाली–आगम के अन्तर्गत सुत्तपिटक में दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त एवं मज्झिमनिकाय के चूलसारोपमसुत्त में इन आत्मवादों के संबंध में कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि उपर्युक्त सुत्तों में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है, वह बाह्यतः नैतिक आचार–सम्बन्धी प्रतीत होती है, लेकिन यह जिस रूप में प्रस्तुत की गई है, उसे देखकर हमें गहन विवेचना में उतरना होता है, जो अंततोगत्वा हमें किसी आत्मवाद संबंधी दार्शनिक निर्णय पर पहुँचा देती है।

पाली–आगम में बुद्ध के समकालीन[1] इन आचार्यों को जहां एक ओर गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी, तीर्थंकर तथा बहुजनों द्वारा सुसम्मत[2] कहा गया है, वहीं दूसरी ओर, उनके नैतिक सिद्धान्तों को इतने गर्हित एवं निन्द्य रूप में प्रस्तुत किया गया

है[3] कि साधारण बुद्धि वाला मनुष्य भी इनकी ओर आकृष्ट नहीं हो सकता। अतः, यहाँ स्वाभाविक रूप से शंका उपस्थित होती है कि क्या ऐसी निन्द्य नैतिकता का उपदेश देने वाला व्यक्ति लोकसम्मानित धर्माचार्य हो सकता है, लोकपूजित हो सकता है?

यही नहीं कि ये आचार्यगण लोकपूजित ही थे, वरन् वे आध्यात्मिक विकास के निमित्त विभिन्न साधनाएं भी करते थे। उनके शिष्य एवं उपासक भी थे। उपरोक्त तथ्य किसी निष्पक्ष गहन विचारणा की अपेक्षा करते हैं, जो इसके पीछे रहे हुए सत्य का उद्‌घाटन कर सके।

मेरी विनम्र सम्मति में उपर्युक्त विचारकों की नैतिक विचारणा को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन विचारकों की नैतिक विचारणा नहीं है, वरन् उनके आत्मवाद या अन्य दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर निकाला हुआ नैतिक निष्कर्ष है, जो विरोधी पक्ष द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

जैनागमों, जैसे–सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), उत्तराध्ययन आदि में भी कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनके आधार पर तत्कालीन आत्मवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

वैदिक साहित्य में प्राचीनतम उपनिषद् छान्दोग्य और बृहदारण्यक[4] हैं, उनमें भी तत्कालीन आत्मवाद के संबंध में कुछ जानकारी उपलब्ध होती है। कठोपनिषद् एवं गीता में इन विभिन्न आत्मवादी धारणाओं का प्रभाव यत्र-तत्र यथेष्ट रूप से देखने को मिल सकता है।

लेख के विस्तारभय से यहां उक्त सभी ग्रंथों के विभिन्न संकेतों के आधार पर उनके प्रतिफलित होने वाले आत्मवादों की विचारणा सम्भव नहीं है, अतः हम यहां कुछ आत्मवादों का वर्गीकृत रूप में मात्र संक्षिप्त अध्ययन ही करेंगे। इनका विस्तृत और पूर्ण अध्ययन तो स्वतंत्र गवेषणा का विषय है।

इस दृष्टि से हमारे अध्ययन में निम्न वर्गीकरण सहायक हो सकता है–

1. नित्य या शाश्वत आत्मवाद,
2. अनित्य आत्मवाद, उच्छेद आत्मवाद, देहात्मवाद,
3. कूटस्थ आत्मवाद, अक्रिय आत्मवाद, नियतिवाद,

4. परिणामी आत्मवाद, आत्म कर्तृत्ववाद, पुरुषार्थवाद,

5. सूक्ष्म आत्मवाद,

6. विभु आत्मवाद,

7. अनात्मवाद,

8. सर्वआत्मवाद या ब्रह्मवाद.

प्रस्तुत निबंध में उपर्युक्त सभी आत्मवादों का विवेचन सम्भव नहीं है, दूसरे अनात्मवाद और सर्व आत्मवाद के सिद्धान्त क्रमशः बौद्ध और वेदांत परम्परा में विकसित हुए हैं, जो काफी विस्तृत हैं, साथ ही लोकप्रसिद्ध हैं, अतः उनका विवेचन प्रस्तुत निबंध में नहीं किया गया है। परिणामी आत्मवाद का सिद्धान्त स्वतंत्र रूप से किसका था, यह ज्ञात नहीं हो सका, अतः उसका भी विवेचन नहीं किया गया है। प्रस्तुत प्रयास में इन विभिन्न आत्मवादों के वर्गीकरण में मुख्यतः एक स्थूल दृष्टि रखी गई है और इसी हेतु कूटस्थ आत्मवाद, नियतिवाद या परिणामी आत्मवाद और पुरुषार्थवाद महावीर के आत्मवाद का मुख्य अंग माने गए हैं, फिर भी महावीर का आत्मदर्शन समन्वयात्मक है, अतः उनके आत्मदर्शन को एकांत रूप से उस वर्ग में नहीं रखा जा सकता है।

अनित्य आत्मवाद

महावीर के समकालीन विचारकों में इस अनित्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व अजितकेशकम्बल करते हैं। इस धारणा के अनुसार, आत्मा या चैतन्य इस शरीर के साथ उत्पन्न होता है और इसके नष्ट हो जाने के साथ ही नष्ट हो जाता है। उनके दर्शन एवं नैतिक सिद्धान्तों को बौद्ध आगम में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

दान, यज्ञ, हवन व्यर्थ हैं। सुकृत–दुष्कृत कर्मों का फल–विपाक नहीं। यह लोक–परलोक नहीं। माता–पिता नहीं, देवता नही... आदमी पंच महाभूतों से बना है, जब मरता है, तब (शरीर की) पृथ्वी–पृथ्वी में, पानी–पानी में, आग–आग में, वायु–वायु में और आकाश–आकाश में मिल जाता है... दान, यह मूर्खों का उपदेश है... मूर्ख हो चाहे पंडित, शरीर छोड़ने पर उच्छिन्न हो जाते हैं...।

बाह्य रूप से देखने पर अजित की यह धारणा स्वार्थ सुखवाद की नैतिक धारणा के समान प्रतीत होती है और उसका दर्शन या आत्मवाद भौतिकवादी परिलक्षित होता है,

लेकिन पुनः यहां यह शंका उपस्थित होती है कि यदि अजितकेशकम्बल नैतिक धारणा में सुखवादी और उनका दर्शन भौतिकवादी था, तो फिर वह स्वयं साधना मार्ग और देह – दण्डन पथ का अनुगामी क्यों था? उसने किस हेतु श्रमणों एवं उपासकों का संघ बनाया था। यदि उसकी नैतिकता भोगवादी थी, तो उसे स्वयं संन्यास मार्ग का पथिक नहीं बनना था, न उसके संघ में संन्यासी या गृहत्यागी का स्थान होना था।

सम्भवतः, वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत होती है कि अजित दार्शनिक दृष्टि से अनित्यवादी था, जगत् की परिवर्तनशीलता पर ही उसका जोर था। वह लोक, परलोक, देवता, आत्मा आदि किसी भी तत्व को नित्य नहीं मानता था। उसका यह कहना 'यह लोक नहीं परलोक नहीं, माता–पिता नहीं, देवता नहीं... ' केवल इसी अर्थ का द्योतक है कि इन सभी की शाश्वत सत्ता नहीं है, सभी अनित्य हैं। वह आत्मा को भी अनित्य मानता था और इसी आधार पर यह कहा गया कि उसकी नैतिक धारणा में सुकृत और दुष्कृत कर्मों का विपाक नहीं।

पश्चिम में यूनानी दार्शनिक हेराक्टिस (535 ई.पू.) भी इसी का समकालीन था और वह भी अनित्यवादी ही था।

सम्भवतः, अजित नित्य आत्मवाद के आधार पर नैतिकता की धारणा को स्थापित करने में उत्पन्न होने वाली दार्शनिक कठिनाइयों से अवगत था, क्योंकि नित्य आत्मवाद के आधार पर हिंसा की बुराई को नहीं समाप्त किया जा सकता। यदि आत्मा नित्य है, तो फिर हिंसा किसकी? अतः, अजित ने यज्ञ, याग एवं युद्धजनित हिंसा से मानव जाति को मुक्त करने के लिए अनित्य आत्मवाद का उपदेश दिया होगा।

साथ ही, ऐसा भी प्रतीत होता है कि वह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होने वाले सांसारिक क्लेशों से भी मानव जाति को मुक्त करना चाहता था और इसी हेतु उसने गृहत्याग और देहदण्डन, जिससे आत्मसुख और भौतिक सुख की विभिन्नता को समझा जा सके, को आवश्यक माना था।

इस प्रकार, अजित का दर्शन आत्म–अनित्यवाद का दर्शन है और उसकी नैतिकता है–आत्मसुख (subjective pleasure) की उपलब्धि।

सम्भवतः, ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने अपने अनात्मवादी दर्शन के निर्माण में अजित का यह अनित्य आत्मवाद अपना लिया था और उसकी नैतिक धारणा में से देह–

दण्डन की प्रणाली को समाप्त कर दिया था। यही कारण है कि अजित की यह दार्शनिक परम्परा बुद्ध की दार्शनिक परम्परा के प्रारंभ होने पर विलुप्त हो गई। बुद्ध के दर्शन ने अजित के अनित्यवादी आत्मसिद्धान्त को आत्मसात् कर लिया और उसकी नैतिक धारणा को परिष्कृत कर उसे ही एक नए रूप में प्रस्तुत कर दिया।

अनित्य आत्मवाद के संबंध में जैनागम उत्तराध्ययन के 14 वें अध्ययन की 18वीं गाथा में भी विवेचन प्राप्त होता है, जहां यह बताया गया कि यह आत्मा शरीर में उसी प्रकार रहती है, जैसे–तिल में तेल, अरणी में अग्नि या दूध में घृत रहता है और इस शरीर के नष्ट हो जाने के साथ ही वह नष्ट हो जाती है।

औपनिषदिक साहित्य में कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली के अध्याय 1 के 20 वें श्लोक में नचिकेता भी यह रहस्य जानना चाहता है कि आत्मनित्यतावाद और आत्म–अनित्यतावाद में कौनसी धारणा सत्य है और कौनसी असत्य?

इस प्रकार, यह तो निर्भ्रान्त रूप से सत्य है कि महावीर के समकालीन विचारकों में आत्म–अनित्यतावाद को मानने वाले विचारक थे, लेकिन वह अनित्य आत्मवाद भौतिक आत्मवाद नहीं, वरन् दार्शनिक अनित्य आत्मवाद था। उनके मानने वाले विचारक आधुनिक सुखवादी विचारकों के समान भौतिक सुखवादी नहीं थे, वरन् वे आत्मशांति एवं आसक्ति नाश या तृष्णाक्षय के हेतु प्रयासशील थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अजित का दर्शन और धर्म (नैतिकता) बौद्ध दर्शन एवं धर्म की पूर्वी कड़ी था। बौद्धों ने उसके दर्शन की जो आलोचना की थी अथवा उसके नैतिक निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे, उसके अनुसार दुष्कृत एवं सुकृत कर्मों का विपाक नहीं, यही आलोचना पश्चात् काल में बौद्ध आत्मवाद को कृतपणाश एवं अकृत–कर्मभोग के दोष से युक्त समझकर हेमचंद्राचार्य ने प्रस्तुत की।

अनित्य–आत्मवाद की धारणा नैतिक दृष्टि से उचित नहीं बैठती, क्योंकि उसके आधार पर कर्म–विपाक या कर्मफल के सिद्धान्त को नहीं समझाया जा सकता। समस्त शुभाशुभ कर्मों का प्रतिफल तत्काल प्राप्त नहीं होता, अतः कर्मफल की धारणा के लिए नित्य आत्मवाद की ओर आना होता है। दूसरे, अनित्य आत्मवाद की धारणा में पुण्य संचय, परोपकार, दान आदि के नैतिक आदर्शों का भी कोई अर्थ नहीं रहता।

नित्यकूटस्थ–आत्मवाद

वर्तमान दार्शनिक परम्पराओं में भी अनेक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि आत्मा कूटस्थ (निष्क्रिय) एवं नित्य है। सांख्य और वेदांत भी इसके समर्थक हैं। जिन विचारकों ने आत्मा को कूटस्थ माना है, उन्होंने उसे नित्य भी माना है। अतः, हमने भी अपने विवेचन हेतु नित्य आत्मवाद और कूटस्थ आत्मवाद–दोनों को समन्वित रूप से एक ही साथ रखा है। महावीर के समकालीन कूटस्थनित्य आत्मवाद के प्रतिनिधि पूर्णकश्यप थे।

पूर्णकश्यप के सिद्धान्तों का चित्रण बौद्ध–साहित्य में इस प्रकार है– अगर कोई क्रिया करे, कराए, काटे, कटवाए, कष्ट दे या दिलाए, चोरी करे, प्राणियों को मार डाले– परदार गमन करे या असत्य बोले, तो भी उसे पाप नहीं। तीक्ष्ण धार वाले चक्र से यदि कोई इस संसार के प्राणियों के मांस का ढेर लगा दे, तो भी उसे कोई पाप नहीं है, दोष नहीं है– दान, धर्म और सत्य भाषण से कोई पुण्य प्राप्ति नहीं होती।

इस धारणा को देखकर सहज ही शंका होती है कि इस प्रकार का उपदेश देने वाला कोई यशस्वी, लोकसम्मानित व्यक्ति नहीं हो सकता, वरन् धूर्त होगा, लेकिन पूर्णकश्यप एक लोकपूजित शास्ता थे, अतः यह निश्चित है कि ऐसा अनैतिक दृष्टिकोण उनका नहीं हो सकता। यह उनके आत्मवाद का नैतिक फलित होगा, जो एक विरोधी दृष्टिकोण वाले लोगों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। फिर भी, इसमें इतनी सत्यता अवश्य होगी कि पूर्णकश्यप आत्मा को अक्रिय मानते थे, वस्तुतः उनकी आत्म–अक्रियता की धारणा का उपर्युक्त निष्कर्ष निकालकर उनके विरोधियों ने उनके मत को विकृत रूप में प्रस्तुत किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णकश्यप के इस आत्म–अक्रियवाद को उसके पश्चात् कपिल के सांख्यदर्शन और भगवद्गीता का काल लगभग 400 ई.पू. माना जाता है और इस आधार पर यह माना जाता है कि ये पूर्णकश्यप के आत्म–अक्रियवाद से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। कपिल के दर्शन से आत्म–अक्रियवाद के साथ ही ईश्वर का अभाव इस बात का सबल प्रमाण है कि वह किसी अवैदिक श्रमण परम्परा के दर्शन से प्रभावित था और वह दर्शन पूर्णकश्यप का आत्म अक्रियवाद का दर्शन ही होगा, क्योंकि उसमें भी ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं था। सांख्यदर्शन भी आत्मा को त्रिगुणयुक्त प्रकृति से भिन्न मानता है और मारना, मरवाना आदि सभी को प्रकृति का परिणाम मानता है। आत्मा

सबसे प्रभावित नहीं होती, वह यह भी नहीं मानता कि आत्मा को नष्ट किया जा सकता है, अतः शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव भी आत्मा पर नहीं पड़ता। इस प्रकार, पूर्णकश्यप का दर्शन कपिल के दर्शन का पूववर्ती था। इसी प्रकार, गीता में भी पूर्णकश्यप के इस आत्म-अक्रियवाद की प्रतिध्वनि यत्र-तत्र सुनाई देती है, जो सांख्यदर्शन के माध्यम से उस तक पहुंची थी। स्थानाभाव से हम यहां उन सब प्रमाणों को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। पाठकगण उल्लेखित स्थानों पर उन्हें देख सकते हैं।

उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर बौद्ध आगम में प्रस्तुत पूर्णकश्यप के दृष्टिकोण को एक सही दृष्टिकोण से समझा जा सकता है, फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त आत्म-अक्रियवाद की धारणा नैतिक सिद्धान्तों के स्थापन में तार्किक दृष्टि से उपयुक्त नहीं ठहरती है।

यदि आत्मा अक्रिय है, वह किसी क्रिया की कर्त्ता नहीं है, तो फिर शुभाशुभ कार्यों का उत्तरदायी भी उसे नहीं माना जा सकता है। स्वयं प्रकृति भी चेतना एवं शुभाशुभ के विवेक के अभाव में उत्तरदायी नहीं बनती। इस प्रकार, आत्म-अक्रियवाद के सिद्धान्त में उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता, कर्त्तव्य, धर्म आदि का मूल्य शून्यवत हो जाता है।

इस प्रकार, आत्म-अक्रियतावाद सामान्य बुद्धि की दृष्टि से एवं नैतिक नियमों के स्थापन की दृष्टि से अनुपयोगी ठहरता है, फिर भी दार्शनिक दृष्टि से इसका कुछ मूल्य है, क्योंकि स्वभावतया आत्मा को अक्रिय माने बिना मोक्ष एवं निर्वाण की व्याख्या सम्भव नहीं थी। यही कारण था कि आत्म-अक्रियतावाद या कूटस्थ-नित्य-आत्मवाद का प्रभाव दार्शनिक विचारणा पर बना रहा।

निष्क्रिय आत्मविकासवाद एवं नियतिवाद

आत्म-अक्रियतावाद या कूटस्थ-आत्मवाद की एक धारा नियतिवाद थी। यदि आत्मा अक्रिय है एवं कूटस्थ है, तो पुरुषार्थवाद के द्वारा आत्मविकास एवं निर्वाण-प्राप्ति की धारणा को नहीं समझाया जा सकता था।

मंक्खलीपुत्र गोशालक, जो आजीवक सम्प्रदाय का प्रमुख था-पूर्णकश्यप की आत्म-अक्रियतावाद की धारणा का तो समर्थक था, लेकिन अक्रिय-आत्मवाद के कारण एवं आत्मविकास की परम्परा को व्यक्त करने में असमर्थ था, अतः निम्न योनि से आत्मविकास की उच्चतम स्थिति निर्वाण को प्राप्त करने के लिए उसने निष्क्रिय आत्म

विकासवाद के सिद्धान्त को स्थापित किया। सामान्यतया, उसके सिद्धान्त को नियतिवाद किंवा भाग्यवाद कहा गया है, लेकिन मेरी दृष्टि में उसके सिद्धान्त को निष्क्रिय आत्मविकासवाद कहा जाना अधिक समुचित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गोशालक उस युग का प्रबुद्ध व्यक्ति था। उसने अपने आजीवक सम्प्रदाय में पूर्णकश्यप के सम्प्रदाय को भी शामिल कर लिया था। प्रारम्भ में उसने भगवान् महावीर के साथ अपनी साधना पद्धति को प्रारम्भ किया था लेकिन उनसे वैचारिक मतभेद होने पर उसने पूर्णकश्यप के सम्प्रदाय से मिलकर आजीवक सम्प्रदाय स्थापित कर लिया होगा[6], जिसका दर्शन एवं सिद्धान्त पूर्णकश्यप की धारणाओं से प्रभावित थे, तो साधना मार्ग का बाह्य स्वरूप महावीर की साधना पद्धति से प्रभावित था।

बौद्ध आगम एवं जैनागम दोनों में ही उसकी विचारणा का कुछ स्वरूप प्राप्त होता है, यद्यपि उसका प्रस्तुतिकरण एक विरोधी पक्ष के द्वारा हुआ है, यह तथ्य ध्यान में रखना होगा–

गोशालक की विचारणा का स्वरूप पालीआगम में निम्नानुसार है–

हेतु के बिना – प्राणी अपवित्र होता है, हेतु के बिना–प्राणी शुद्ध होते हैं, पुरुष की सामर्थ्य से कुछ नहीं होता–सर्व सत्य, सर्व प्राणी, सर्वभूत, सर्वजीव, अवश, दुर्बल, वीर्य हैं, वे नियति (भाग्य), संगति एवं स्वभाव के कारण परिणत होते हैं–

इसके आगे उसकी नैतिकता की धारणा को पूर्वोक्त प्रकार से भ्रष्ट प्रकार में उपस्थित किया गया है, जो विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त आधार पर उसकी धारणा का सार यही है कि आत्मा निष्क्रिय है, अवीर्य है, इसका विकास स्वभावतः होता रहता है। विभिन्न योनियों में होता हुआ यह जीवात्मा अपना विकास करता है और निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

लेकिन, ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक दृष्टि से वह व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता था, अन्यथा वह स्वयं भी नग्न रहना आदि देह–दण्डन को क्यों स्वीकार करता, जिस प्रकार बाद में गीता में अपनी–अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश दिया गया था। वर्त्तमान युग में ब्रेडले ने (my station and its duties) समाज में अपनी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने के नैतिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार छः अभिजातियों[7] (वर्गों) को उनकी स्थिति के अनुसार कर्त्तव्य करने का उपदेश देता होगा और यह मानता होगा कि आत्मा अपनी

अभिजातियों के कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वतः विकास की क्रमिक गति से आगे बढ़ता रहता है।

पारमार्थिक दृष्टि से या तार्किक दृष्टि से नियतिवाद विचारणा का चाहे कुछ मूल्य रहा हो, लेकिन नैतिक विवेचना में नियतिवाद अधिक सफल नहीं हो पाया। नैतिक विवेचना में इच्छा-स्वातंत्र्य(free will) की धारणा आवश्यक है, जबकि नियतिवाद में उसका कोई स्थान नहीं रहता है, फिर दार्शनिक दृष्टि से भी नियतिवादी तथा स्वतः विकासवादी धारणाएं निर्दोष हों, ऐसी बात भी नहीं है।

नित्य कूटस्थ-सूक्ष्म-आत्मवाद

बुद्ध का समकालीन एक विचारक पकुधकच्चायन आत्मा को नित्य और कूटस्थ (अक्रिय) मानने के साथ ही उसे सूक्ष्म मानता था। 'ब्रह्मजालसुत्त' के अनुसार उसका दृष्टिकोण इस प्रकार का था-

सात पदार्थ किसी के बने हुए नहीं हैं (नित्य हैं), वे तो अवध्य कूटस्थ-अचल हैं। जो कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर काट डालता है, वह उसका प्राण नहीं लेता। बस इतना ही समझना चाहिए कि सात पदार्थों के बीच अवकाश में उसका शस्त्र घुस गया है।

इस प्रकार, इस धारणा के अनुसार आत्मा नित्य और कूटस्थ तो थी ही, साथ ही सूक्ष्म और अछेद्य भी थी। पकुधकच्चायन की इस धारणा के तत्त्व उपनिषदों[8] तथा गीता[9] में भी पाए जाते हैं। उपनिषदों में आत्मा को सरसों या चावल के दाने से सूक्ष्म माना गया है तथा गीता में उसे अछेद्य, अवध्य कहा गया है।

सूक्ष्म आत्मवाद की धारणा भी दार्शनिक दृष्टि से अनेक दोषों से पूर्ण है, अतः बाद में इस धारणा में काफी परिष्कार हुआ है।

महावीर का आत्मवाद

यदि उपर्युक्त आत्मवादों का तार्किक वर्गीकरण किया जाए, तो हम उनके छः वर्ग बना सकते हैं-

1. अनित्य आत्मवाद या उच्छेद आत्मवाद
2. नित्य आत्मवाद या शाश्वत आत्मवाद
3. कूटस्थ आत्मवाद या निष्क्रिय आत्मवाद एवं नियतिवाद

4. परिणामी आत्मवाद या कर्त्ता आत्मवाद या पुरुषार्थवाद

5. सूक्ष्म आत्मवाद

6. विभु आत्मवाद (यही बाद में उपनिषदों का सर्वात्मवाद या ब्रह्मवाद बना है)

महावीर अनेकान्तवादी थे, साथ ही वे इन विभिन्न आत्मवादों की दार्शनिक एवं नैतिक कमजोरियों को भी जानते रहे होंगे, अतः उन्होंने अपने आत्मवाद को इनमें से किसी भी सिद्धान्त के साथ नहीं बांधा। उनका आत्मवाद इनमें से किसी भी एक वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता, वरन् उनका आत्मवाद इन सबका एक सुंदर समन्वय है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने वीतरागस्तोत्र में एकांतनित्य आत्मवाद और एकांत अनित्य आत्मवाद के दोषों का दिग्दर्शन कराते हुए बताया है कि वीतराग का दर्शन इन दोनों के दोषों से मुक्त है। विस्तारभय से यहां नित्य आत्मवाद और अनित्य आत्मवाद तथा कूटस्थ आत्मवाद और परिणामी आत्मवाद के दोषों की विवेचना में न पड़कर हमें केवल यही देखना है कि महावीर ने इन विभिन्न आत्मवादों का किस रूप में समन्वय किया है–

1. नित्यता– आत्मा अपने अस्तित्व की दृष्टि से सदैव रहता है, अर्थात् नित्य है। दूसरे शब्दों में आत्मा तत्त्व रूप से नित्य है, शाश्वत है।

2. अनित्यता– आत्मा पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। आत्मा के एक समय में जो पर्याय रहते हैं, वे दूसरे समय में नहीं रहते हैं। आत्मा की अनित्यता व्यावहारिक दृष्टि से है, बद्धात्मा में पर्याय परिवर्तन के कारण अनित्यत्व का गुण भी रहता है।

3. कूटस्थता–स्वलक्षण की दृष्टि से आत्मा कर्त्ता या भोक्ता अथवा परिणमनशील नहीं है।

4. परिणामीपन या कर्त्तत्व– सभी बद्धात्माएं कर्मों के कर्त्ता और भोक्ता हैं। यह एक आकस्मिक गुण है, जो कर्मपुद्गलों के संयोग से उत्पन्न होता है।

5.6.सूक्ष्मता तथा विभुता– आत्मा संकोची एवं विकासशील है। आत्मप्रदेश घनीभूत होकर इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि आगमिक दृष्टि से एक सूचिकाग्रभाग पर असंख्य आत्मा सशरीर निवास करती हैं। तलवार की सूक्ष्म तीक्ष्ण धार भी सूक्ष्म एकेंद्रिय जीवों के शरीर तक को नष्ट नहीं कर सकती। विभुता की दृष्टि से एक ही आत्मा के प्रदेश यदि प्रसारित हों तो समस्त लोक को व्याप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि महावीर का आत्मवाद तत्कालीन विभिन्न आत्मवादों का सुन्दर समन्वय है। यही नहीं, वरन् यह समन्वय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि सभी प्रकार की आत्मवादी धाराएं अपने-अपने दोषों से मुक्त हो-होकर यहां आकर मिल जाती हैं।

हेमचन्द्र इस समन्वय को औचित्यता के एक सुन्दर उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं-

गुडो हि कफ हेतुः स्यात् नागरं पित्तकारणम्।
व्दयात्मनि न दोषोस्ति गुडनागरभेषजे।।

जिस प्रकार गुड़ कफजनक और सौंठ पित्तजनक है, लेकिन दोनों के समन्वय में यह दोष नहीं रहते, इसी प्रकार विभिन्न आत्मवाद पृथक्-पृथक् रूप से नैतिक अथवा दार्शनिक दोषों से ग्रस्त हैं, लेकिन महावीर द्वारा किए गए इस समन्वय में वे सभी अपने-अपने दोषों से मुक्त हो जाते हैं। यही महावीर के आत्मवाद की औचित्यता है। यही उनका वैशिष्ट्य है।

***

संदर्भ

1. मज्झिमनिकाय-2/3/7
2. संयुक्तनिकाय-3 /1/1
3. (अ) सूत्रकृतांग, प्रथम अध्ययन, (ब) भगवती-1/9/5, शतक 15, (स) उत्तराध्ययन- 14/18
4. ये प्राचीनतम माने जाने वाले उपनिषद् महावीर के समकालीन या उनके कुछ परवर्ती ही हैं, क्योंकि महावीर के समकालीन 'अजातशत्रु' का नाम निर्देश इनमें उपलब्ध है। बृहदा-2 /15-17
5. गीता-3/27, 2/21, 8/17
6. अंगुत्तरनिकाय का छक्क निपातसुत्त तथा भगवान् बुद्ध, धर्मानन्द कौशम्बी, पृ.18
7. गोशालक की छः अभिजातियां व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएं हैं-
   1. कृष्ण, 2. नील, 3. लोहित, 4. हरित, 5. शुक्ल, 6. परमशुक्ल, तुलनीय, जैनों का लेश्या सिद्धान्त-1. कृष्ण, 2. नील, 3. कपोत, 4. तेजो, 5. पद्म, 6. शुक्ल।
   (विचारणीय तथ्य यह है कि गोशालक के अनुसार निर्ग्रन्थ साधु तीसरे लोहित नामक वर्ग में हैं, जबकि जैन धारणा भी उसे तेजोलेश्या या लोहित वर्ग का साधक मानती है।)
8. छान्दोग्य उपनिषद्-3/14/3 / बृहदारण्यक उपनिषद्-5/6/1
   कठोपनिषद् -2/4/12
9. गीता-2/18-20

***

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

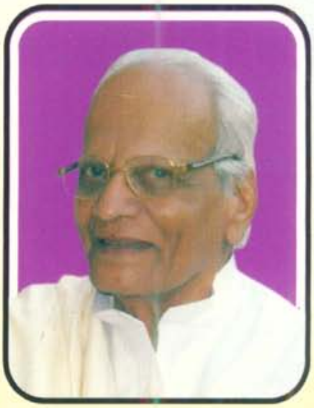

जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954 एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963 पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986 एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ : पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र) पूर्वसचिवःपार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)